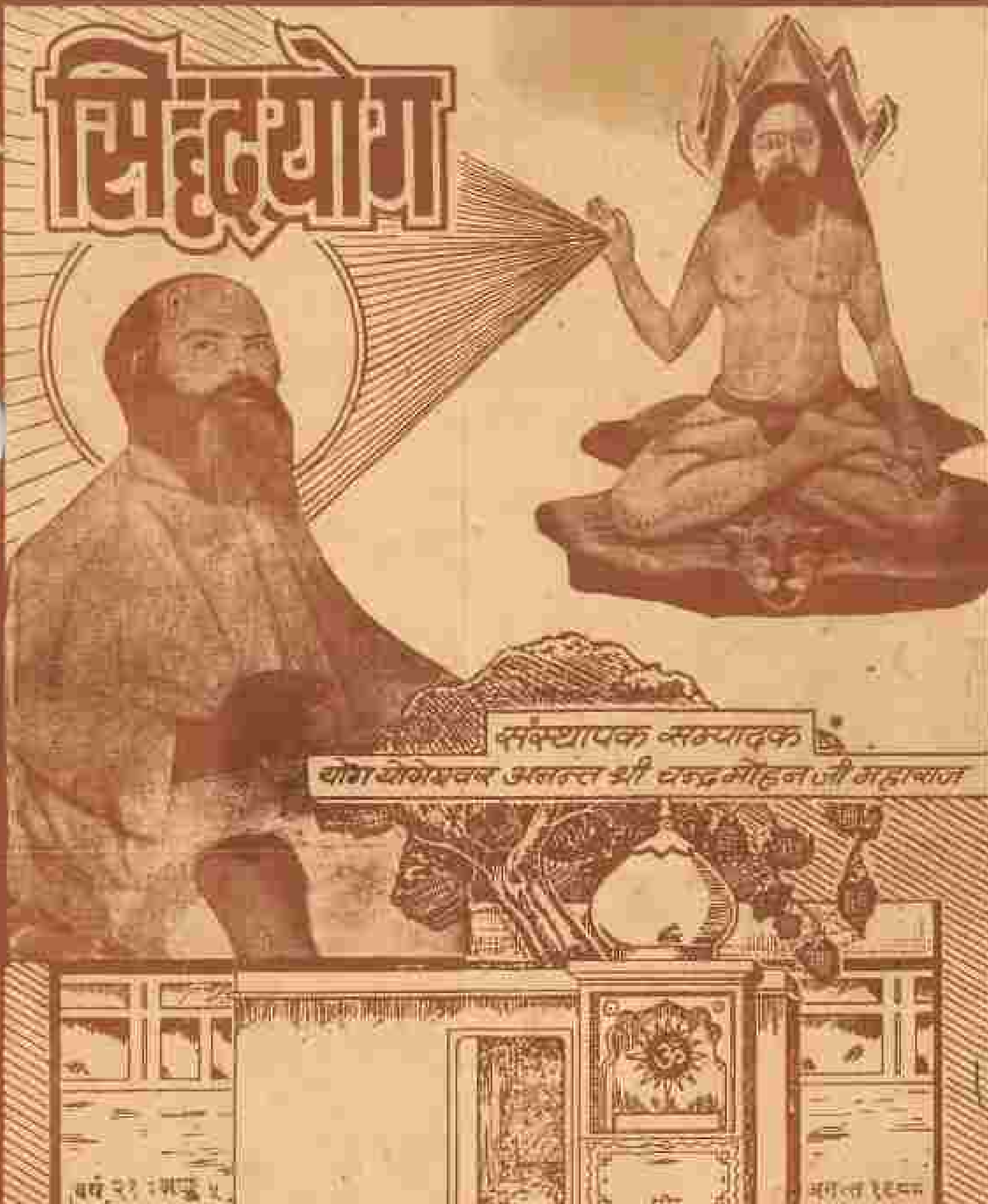

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन संवाई, आगरा

इस अंक के लेख

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
बम्बई
आगरा

★ फलन्ति संचितानि [illegible] कुसुमः (प्रार्थना) १

★ नन्दन्ति योगीश्वराः (सम्पादकीय लेख) २
● [illegible] श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

★ पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम् ६

★ योगियों की साधना-स्थली काशी ९
● श्री ब्र० ओमप्रकाश

★ संकल्प-शक्ति १३
● जगदीशनारायण उपाध्याय

★ मौना अवस्था कैसे प्राप्त हो ? २५
● श्री स्वामी विद्यानन्दजी

★ प्रशंसा से बचो २७
● कुमारी [illegible]

★ हमारे श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी महाराज २९
● श्री शिवरामसिंह सागर

★ अन्तर्ज्ञान अथवा दिव्य दृष्टि ३४
● श्री लालजीराम शुक्ल

★ मनुष्य जन्म का महत्व ३८
● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

★ प्रथम दर्शन—योग साधन आश्रम ऋषिकेश ४२
● श्री डा० [illegible]सिंह

★ रेल यात्रा के दो आध्यात्मिक प्रसंग
● श्री [illegible] उपाध्याय

★ प्रज्ञा-प्रसाद ४८
● श्री डा० [illegible]

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

अगस्त
१९८८

वार्षिक मूल्य २० रुपया। इस अङ्क का ४ रुपया।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २१ अङ्क ९	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्साम्यर्थान् बहुविधाद योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥	अगस्त १९८८

काले फलन्ति संचितानि यथैव वृक्षाः

नैवाकृतिः नैव कुलं न शील
विद्याऽपि नैव च यत्नकृतापि सेवा
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः

—भर्तृहरि, नीति शतक

अर्थात्

मनुष्य को फल देने वाली न तो उसकी सुन्दर आकृति है न उसका ऊँचा कुल है। न उसका सत्स्वभाव है, न विद्या है, न परिश्रम पूर्वक की गई स्वामि सेवा है। किन्तु पूर्व जन्म में किये गये तप से सञ्चित कर्मों के आधार पर निर्मित भाग्य ही वृक्ष की तरह समय आने पर फल दिया करता है।

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

आदर्श व्यक्ति, आदर्श समाज और आदर्श राष्ट्र के निर्माण के लिए वैदिक ऋषियों ने अष्टाङ्ग योग के जिन सिद्धान्तों को स्थिर किया है, उनका अनुपालन यदि विधिपूर्वक कर लिया तो निश्चित रूप से अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति सभी को सकती है। योगी जीवन की इसी महत्ता को पूज्य श्री गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में समझाने की कृपा की है।

—सं० सम्पादक

नंदंति योगीश्वराः

अपने वैराग्य-शतक में योगिराज भर्तृहरि महाराज का यह श्लोक जिसे हम यहाँ उनके ही शब्दों में यथावत् उद्धृत कर रहे हैं, संसार को एक ऐसी भयानक दुस्तर-कठिनाई से पार होने वाली—नदी के रूप में चित्रित कर रहे हैं, जिसे संसारी साधारण जन नहीं, किन्तु विशुद्ध मन वाले योगिराज ही पार करके आनन्दित हुआ करते हैं। श्लोक इस प्रकार है :

आशा नाम नदी मनोरथ जला तृष्णा तरङ्गाकुला,
राग ग्राहवती वितर्क विहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त सुदुस्तराऽति गहना प्रोत्तुङ्ग चिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्ध मनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

इसका आशय यही है कि जीवन आशा नामक एक ऐसी दुस्तर-मुश्किल से पार किये जाने वाली नदी के रूप में समझा जाना चाहिए जिसमें मनोरथों का अगाध जल भरा हुआ है तथा जिसमें तृष्णा रूपी तरंगें इधर से उधर सदा तरंगित रहा करती हैं। अगाध जल-राशि से परिपूर्ण होने के कारण वायु-वेग से इसमें भयङ्कर भँवरों का प्राबल्य भी रहा करता है। विकराल और विशालकाय रागरूपी मगर-मच्छ और ग्राहों की भी इसमें कमी नहीं है, इसीलिए इसे ग्राहवती भी कहकर पुकारा जाता है। धैर्यद्रुम नाम से प्रख्यात—जो वृक्ष इसके समीप वेगवान प्रवाह को रोकने के लिए आ उगा है, उसे भी इसकी धारा काट-काटकर गिराने में संलग्न है। तर्क-वितर्क रूपी पक्षी भी मार्ग अवरोधक बने हुए हैं। चिन्ता रूपी ऊँचे-ऊँचे तटों के बीच से होकर—अति वेग से बहती हुई ऐसी अति अगाध और गहन-गम्भीर भयङ्कर गरजती—उफनती हुई विशाल-तम नदी को जन-साधारण कैसे पार करें, यह उनकी समझ में नहीं आता! कि कर्तव्य-विमूढ़ से होकर वे नाहक में ही प्राण चले जाने के भय से इसको दूर से ही नमन करते अलग खड़े रह जाते हैं। लेकिन अलग खड़े-खड़े वे यह भी देख पाते हैं कि विशुद्ध मन और निर्मल पवित्र आचरण वाले योगीजन इस विकराल-भयंकर आवेग वाली नदी को उसकी सभी बाधाओं के होते हुए भी,

सहज भाव से निरापद रूप में पार करके आनन्द को प्राप्त हो रहे हैं।

महाराज भर्तृहरि का जीवन-धारा को नदी के रूप का रूपक देकर प्रस्तुत करना बहुत ही उपयुक्त और यथार्थ-सा ही है। जल से परिपूर्ण नदी जितनी गम्भीर और अगाध होती है; जीवन भी वैसा ही अगाध, गम्भीर और महन होता है। हर किसी के लिए न उसकी थाह ले पाना संभव हो पाता है न इसको पार करके एक किनारे से दूसरे किनारे पर सुरक्षित रूप में जा पहुंचना ही मुमकिन हो पाता है। अनेक प्रकार की बाधाएं और कठिनाइयां उसके सामने आ खड़ी होती हैं, जो इसे पार करने की इच्छा रखता है। जीवन क्या है? हमें किस उद्देश्य के लिए यह मिला है, कैसे और किन साधनों से हम जीवनोद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं, जो इसे नहीं जानते, वे इस जीवन-नदी को पार करने का साहस ही नहीं जुटा पाते। संकल्पशील, दृढ़ निश्चयी, यती, व्रती, तपस्वी और जितेन्द्रिय साधक ही इसे पार करने के लिए आगे बढ़ा करते हैं। सार रूप में यह भी कहा जा सकता है कि योग के साधन ही ऐसा सेतु हो सकते हैं जिसे आधार बनाकर कोई भी साधक निरापद रूप में इस पार से जहां भोग-रोग आदि की ही बहुतायत और आधिक्य है—उस पार पहुंच जाने में समर्थ हो जाते हैं, जहां आनन्द ही आनन्द है। ऐसा आनन्द जिसे पाकर फिर और किसी आनन्द की चाह रह ही नहीं जाती। शाश्वत शान्ति और अक्षय आनन्द की उपलब्धि का मार्ग अगर कोई हो सकता है तो वह योग-मार्ग ही हो सकता है—

न अन्य पंथा विद्यते अयनाय।

कठोपनिषद् के ऋषि का भी तो यही कहना है कि जग-जीवन का मार्ग बड़ा ही दुर्गम और दुरूह है। 'क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्या है' यानी छुरे की धार के समान यह अतिशय पैना और नुकीला है। बड़ी ही सजगता और सावधानी रखकर इस पर चलना होता है। उत्तिष्ठित और जाग्रत अवस्था में अपने को रखकर जो चलना नहीं जानते हैं, वे श्रेष्ठतम दिशा-बोध न पाकर अन्धकार और अविद्या के घेरे से बाहर निकल कर उस आनन्दघन ज्योति स्वरूप परम तत्व परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाते।

तां योगमिति मन्यन्ते,
स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवन्ति,
योगी हि प्रभवाप्य यौ॥

यानी इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिर धारणा का ही नाम योग है, ऐसा अनुभवी योगी महानुभाव मानते हैं, क्योंकि उस समय साधक विषय दर्शन रूप सब प्रकार के प्रमाद से रहित हो जाता है। परन्तु यह योग उदय और अस्त होने वाला है। अतः परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाले साधक को निरन्तर योगयुक्त रहने का दृढ़ अभ्यास करते ही रहना चाहिए।

आशय इसका भी यही है कि जग-जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है मानव के लिए मोक्षानन्द को प्राप्त करना और यह मोक्षानन्द जगत् के विषय-भोगों में रत रहते हुए प्राप्त नहीं किया जा सकता। अनेक प्रकार की आशायें, तृष्णा और चिन्तायें मनुष्य को उस पार आनन्द के परम लोक में पहुंचाने में

बाधक बनकर सामने खड़ी रहती हैं। इन्हें रोकने का इन से ऊपर उठकर उस पार परमानन्द के लोक में पहुंचने का एक ही मार्ग है, एक ही सेतु है और वह है योगी-जीवन की साधना।

यह साधना निश्चित रूप से कठिन होती है, क्योंकि जिन इन्द्रिय-द्वारों से साधक इसे प्राप्त करना चाहता है, वे बहिर्मुखी होते हैं। बहिर्मुखी होने का परिणाम यह निकलता है कि वे बाहरी दुनिया में स्थित अपने विषयों की ओर ही भागने का प्रयत्न स्वतः करने लगती हैं। इस स्थिति को रोकने का उपाय भी कठोपनिषद् का ऋषि योगाभ्यास की सतत् साधना को ही बता रहा है। यमराज और नचिकेता संवाद में वे नचिकेता को यमराज के मुख से कहला रहे हैं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

कहा है कि स्वयंभू परमेश्वर ने समस्त इन्द्रियों के द्वारों को बाहर की ओर जाने वाला ही बनाया है। इसलिए मनुष्य बाहर की ओर ही देखता है। किसी भाग्यशाली बुद्धिमान मनुष्य ने ही अमरपद की इच्छा करके इन्द्रियों को बाहर की ओर जाने से लौटाकर अपने अन्तर की ओर झांकने में प्रवृत्त कराया है।

इस कथोपकथन से साधकों की बुद्धि में आसानी से यह बात बैठ जानी चाहिए कि बहिर्मुखी वृत्तियों का निरोध करके उन्हें अन्तर्मुखी बना लेना योगाभ्यास अथवा ध्यान साधना के बिना सम्भव ही नहीं हो सकता और यह योगाभ्यास भी सूर्य के उदय-अस्त के समान चाहे कभी कर लिया और कभी छोड़ दिया ऐसा नहीं होना चाहिए, बल्कि योगाभ्यास में दृढ़ता और नैरन्तर्य आना चाहिए तथा इसमें साधक को सद्गुरु का निर्देश और मार्ग-दर्शन भी ग्रहण करना चाहिए। जो ऐसा करते हैं, वे ही उस परम-तत्त्व का दर्शन अपनी अन्तरात्मा में कर पाते हैं, जिसके बारे में यमराज ने बताया है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा,
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

अर्थात्—जो परमात्मा सदा सबके अन्तरात्मा में स्थित है, जो अद्वितीय और सर्वथा स्वतन्त्र है और जो सबको अपने नियन्त्रण में रखता है, एक होते हुए भी जो विविध रूपों में दर्शित होता है तथा ज्ञानी पुरुष जिसे निरन्तर अपने अन्तर में स्थित हुआ देखते हैं, वे ही अविनाशी स्थिर आनन्द को प्राप्त कर पाते हैं अन्य नहीं।

इस कथन का भी अभिप्राय यह है कि योग-मार्ग के सच्चे अनुयायी ही योग-जीवन के लक्ष्य को समझकर उसे प्राप्त कर लेने में सफल हो पाते हैं, फिर चाहे यह मार्ग ऊपर से देखने में कितना ही कठिन क्यों न हो, 'दुर्गम कवयो वदन्ति निशिता दुरत्यया' जैसा हो या योगिराज भर्तृहरि के कथनानुसार—'राग आहवती धैर्यद्रुम विध्वंसिनी प्रोत्तुङ्ग चिन्ता तटी' वाली वेगवती नदी जैसे अगाध जल से परिपूर्ण हो, योगीजन उसे पार कर ही जाते हैं।

ऐसी होती है महिमा योगी जीवन की। जो लोग यौगिक सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन का निर्माण नहीं कर पाते हैं वे न अपना इहलोक बना पाते है न परलोक। जगदात्मा योगयोगेश्वर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने भी अर्जुन को अपने उपदेश में योगी की श्रेष्ठता बताते हुए कहा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

तपस्वियों और ज्ञानियों से भी योगी अधिक श्रेष्ठ है तथा कर्मकाण्डियों से भी योगी अधिक श्रेष्ठ होता है। इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन।

इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि भगवान श्रीकृष्णचन्द्र का अर्जुन को निमित्त बनाकर दिया गया यह उपदेश मनुष्य मात्र के लिए है। इसलिए अपने इह लौकिक और पारलौकिक जीवन का कल्याण चाहने वाले प्रत्येक मननशील व्यक्ति को योग-सिद्धान्तों को अपनाने का सद् प्रयत्न उसी क्षण से आरम्भ कर देना चाहिए जिस क्षण उसके मन में योगिराज भर्तृहरि की यह सदोक्ति समा जाय कि—

गतास्तुल्यावस्था विकतिल नदी तीर तरुभिः।

हम लोग नदी के किनारे बालू के कणों में उगाये वृक्ष के समान दिन-ब-दिन मृत्यु के निकट पहुँचते जा रहे हैं।

भगवती श्रुति का भी तीन सूत्रीय आदेश यही है कि—

तमसो मा ज्योतिर्गमय,
असतो मा सद्गमय,
मृत्योर्मा अमृतोगमय।

अर्थात्—हे मनुष्यो ! तुम अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ो, असद् से सद् की ओर चलो और मृत्यु से हटकर अमृत का वरण कैसे करोगे, इस श्रुति सम्मत तीन सूत्रीय कार्यक्रम की पूर्ति। उत्तर केवल एक ही है और वह यह कि तुम योग-सिद्धान्तों को अपनाकर योगी बनने का व्रत लो। सद्गुरु निष्ठा को सम्बल बनाकर अभ्यास, तप, त्याग, वैराग्य, जितेन्द्रियता का पाथेय लेकर निकल पड़ो इस कल्याणकारी मार्ग पर। यात्रा का शुभारम्भ कर दोगे तो निश्चित रूप से तुम उस बिन्दु पर पहुंच ही जाओगे, जहाँ पहुँचकर आत्म-तृप्ति के अतिरिक्त फिर कुछ पाना शेष नहीं रहता। तुम स्वयं अनुभव करोगे कि पूर्णता का यही वह बिन्दु है जहाँ पहुंचकर वैदिक ऋषियों ने आनन्दित होकर गाया है—

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं,
पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय,
पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ●

● मृत्यु जैसे अनिवार्य है वैसे आवश्यक भी है, जैसे नींद आवश्यक है। दिनभर के व्यवहार में हम थक जाते हैं और हमें आराम की जरूरत रहती है, इसलिए रात को निद्रा एक आवश्यक वस्तु है। वैसे ही प्राण को आराम की जरूरत रहती है और मृत्यु प्राण के लिए निद्रा है। जब हम सोते हैं तब हमारे शरीर, इन्द्रियाँ सबको आराम मिलता है, लेकिन प्राण को नहीं मिलता, प्राण काम नींद में भी चलता रहता है। वह आराम मृत्यु के बाद मिलता है, इसलिए मृत्यु आवश्यक है। मृत्यु एक महानिद्रा है। —विनोबा

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

कतिपय यौगिक सूत्र और उनकी व्याख्या

जितेन्द्रियत्वं ब्रह्मचर्यम् ॥ १

इन्द्रियों का संयम ब्रह्मचर्य है।

मात्र उपस्थसंयम ब्रह्मचर्य नहीं कहलाता। पूर्ण रूप से वीर्य रक्षा के साथ अन्य समस्त इन्द्रियों को संयत कर विषयों में निर्बाध रूप से प्रवृत्त होने से रोकना ब्रह्मचर्य है। यदि चक्षु आदि इन्द्रियों को खुला छोड़ दिया जाय तो ये सब मिलकर वीर्यनाश का कारण बन जाती हैं। अतः किसी भी इन्द्रिय की अपने विषय में आसक्ति को न उभरने देना ब्रह्मचर्य पालन के लिए अनिवार्य है। मुण्डकोपनिषद (३-१-५) में कहा—"सत्येन लभ्य-स्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।" ब्रह्मचर्य का पालन न करने वाले को आत्म-साक्षात्कार कभी नहीं होता। यह पथ अत्यन्त दुर्गम है। पूर्ण संयमी पुरुष ही इसको पार करने में सफल हो पाता है। इस साधना में लगे व्यक्ति को सावधान करने के लिए मनुस्मृति (२-८८-९३) में लिखा है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥

जैसे सारथी घोड़ों को नियम में रखता है वैसे ही विद्वान् मन और आत्मा को खोटे कामों में खींचने वाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को प्रयत्नपूर्वक नियन्त्रण में रक्खे। क्योंकि इन्द्रियों के वश में होके जीवात्मा बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है तो सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

ऐसा अवसर ही न आने पाये—इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

ब्रह्मचर्य साधन में रत व्यक्ति को आठों प्रकार के मैथुन से बचना चाहिए।

स्त्री (पुरुष) का एकान्त दर्शन, स्पर्शन, सेवन, विषयकथा, भाषण, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग—ये आठ प्रकार का मैथुन है।

इस सन्दर्भ में गीता (६/१६-१७) के ये श्लोक द्रष्टव्य हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

अतिशय खाने वाले या बिलकुल न खाने वाले और खूब सोने वाले या जागरण करने वाले को योग-सिद्ध नहीं होता। जिसका आहार विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा-तुला है और सोना-जागना परिमित है, उसीको वह योग दुःखनाशक अर्थात् सुखावह होता है ॥ १

× × × ×

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ २

ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित होने पर वीर्य—दैहिक आत्मिक शक्ति का लाभ होता है।

जीवन का उद्देश्य है—अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि। एतदर्थ सर्वोत्तम साधन है—निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन। ब्रह्मचर्य का सीधा अर्थ है—चित्त में काम-वासनाओं को न उभरने देना। न चाहते हुए भी जिस चीज से बलपूर्वक प्रेरित होकर मनुष्य पाप कर डालता है, वह काम का उद्दाम वेग है। "कामात् क्रोधोऽभिजायते"। कामान्ध व्यक्ति की काम-वासना पूरी होने में बाधा आ जाने पर, रजोगुण की प्रबलता होने से, वही काम क्रोध में परिणत हो जाता है। फिर—

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

—गीता २/६३

इस प्रकार की कभी तृप्त न होने वाली यह कामानल मनुष्य को भस्म कर डालता है। ऐसे दुर्दान्त शत्रु-काम का समूल उन्मूलन निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य पालन से ही संभव है। इतिहास साक्षी है कि साधकों को योग-भ्रष्ट करने में सबसे बड़ा हाथ इसी का रहा है। अतः योगमार्ग को निष्कण्टक बनाने के लिए ब्रह्मचर्य पालन ही सर्वोत्तम उपाय है ॥ २

× × × ×

अन्त में अपरिग्रह का स्वरूप प्रस्तुत कर उसके अनुष्ठान से होने वाले फल का निर्देश करते हैं—

देहरक्षातिरिक्त भोगसाधनास्वीकारोऽपरिग्रहः ॥ ३

देह रक्षा के लिए आवश्यक भोग्य पदार्थों के अतिरिक्त वस्तुओं का संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है।

विषय के अर्जन, रक्षण, क्षय, संग और हिंसा से दुःख होता है। इन सब दुःखों को देख समझकर दुःखों से मुक्ति चाहने वाले विषयों को ग्रहण नहीं करते और 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (तै० आरण्यक १०-१०) त्याग के द्वारा मुक्ति का आनन्द भोगते हैं। प्राण धारण के लिए भोजन, शरीर ढाँकने के लिए वस्त्र, सर्दी, गर्मी और वर्षा से बचने के लिए मकान आवश्यक है। परन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति सादे भोजन, सादे वस्त्रों और सादे ढङ्ग से बने मकान से हो जाती है। असाधारण भोजन, बहुमूल्य वस्त्र और आलीशान बंगले 'परिग्रह' की कोटि में आ जाते हैं। योगी के लिए अपरिग्रह पर इतना बल इसलिये दिया गया है कि यदि वह अनावश्यक संग्रह में लगा रहा तो उसकी वृत्तियाँ तो बहिर्मुखी होंगी ही, उसका सारा जीवन भी इसी में पूरा हो जायेगा। योग-साधना के लिए फिर अवसर कहाँ?

अपरिग्रह का एक सामाजिक पक्ष भी है। इस दृष्टि से अपरिग्रह का व्यापक पालन सद्गृहस्थों द्वारा किया जाना वाञ्छनीय है। इसके अभाव में उपभोग्य सामग्री का कुछेक स्थानों पर जमा होना सम्भव है। परिणामतः साधारण जनता के लिए उसके व्यवहार में कमी हो जाना अवश्यम्भावी है। इससे समाज में विषमता एवं तज्जन्य असन्तोष का कारण विशृंखलता फैलना स्वाभाविक है। सामाजिक दृष्टि से तो—

> यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनः।
> अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनः दण्डमर्हति ॥

आवश्यकता से अधिक वस्तु रखना समाज के प्रति अन्याय एवं दण्डनीय अपराध है। ऐसे व्यक्तियों में पर-दुःखकातरता एवं सहानुभूति का अभाव होता है। बहुत द्रव्य का स्वामी होकर उसे परार्थ में न लगाना स्वार्थपरता है। 'त्यागाय सम्भृतार्थानाम्' (रघुवंश)—रघुवंशी त्याग के लिए ही संग्रह करते थे। "आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव"—बादलों की भाँति उनका लेना भी देने के लिए होता था। इन गुणों के कारण वे "योगेनान्ते तनुत्यजाम्" अन्त में योगावस्था में ही प्राणों का विसर्जन करते थे। योगी का लक्ष्य निःस्वार्थपरता की चरम सीमा है। अतः जीवन धारण के लिए नितान्त आवश्यक भोग्य वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ भी परिग्रह करना उसकी योग-सिद्धि में बाधक है ॥ ३

● इसका साक्षात् अनुभव प्राप्त करने के लिए तुम्हें गुरु की सहायता लेनी होगी, जो शास्त्रों के द्वारा तुम्हें इसे समझायेंगे। जब तुम यह अनुभव करोगे कि तुम तथा प्रत्येक जीव परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तब तुम्हें मुक्ति की प्राप्ति होगी। ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य के बिना मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है और ऐसे लोग इस संसार में बहुत विरले हैं, जिन्होंने इसे प्राप्त कर लिया है।

—समाधि तत्त्व दर्शन

योगियों की साधना-स्थली काशी

● श्री ब्र० ओमप्रकाश

काशी योगियों के परम आराध्य योगेश्वर भगवान सदा शिव बाबा विश्वनाथ की नित्य आवास भूमि है। केवल इतना ही नहीं यहाँ ३३ करोड़ देवताओं तथा समस्त तीर्थों का भी निवास है। शास्त्रों में काशी को ब्रह्मस्वरूप बतलाया गया है। क्योंकि साक्षात् परब्रह्म प्रणव रूप भगवान सदाशिव यहाँ निवास करते हैं—

काशी ब्रह्मेति विख्याता
यद्विवर्तो जगद् भ्रमः।
अविवर्तं तदेवाहुः
काशीति ब्रह्मवादिनः॥

(काशी रहस्य अ—२-२६)

अर्थात्—काशी ही ब्रह्मरूप से विख्यात है समस्त विश्व उसीका विवर्त है अतएव मिथ्या है। अविवर्त ब्रह्म ही काशी है ऐसा ब्रह्मवादी लोगों का कथन है।

काशी योगी, ज्ञानी, भक्ति से युक्त सन्त महात्माओंसे सेवित भूमि है। यहाँ के निवास से ही आध्यात्मिक स्पन्दन उत्पन्न हो जाते हैं और मनुष्य को अन्तर्ज्योति का प्रकाश स्वतः ही हो जाता है। काशी की भूमि के ऊपर एक ऐसा वायु मण्डल सदैव रहता है जो यहाँ निवास करने वालों को ज्ञान, वैराग्य, तथा योग की साधना के लिए प्रेरित रहता है उक्त वायुमण्डल से शिव-शिव की ध्वनि तरंगायमान रहती है। वह व्यापक रूप में यहाँ सदैव व्याप्त है। काशी की पृथ्वी के ऊपर कण-कण पर शिवजी व्याप्त हैं।

शिवपुराण में काशी के प्रादुर्भाव की कथा संक्षिप्त में इस प्रकार है। एक बार उमा-महेश्वर काशी के अविमुक्त क्षेत्र में विराजमान थे। देवी पार्वती ने पूछा—"आपके इस अविमुक्त क्षेत्र का इस भूतल पर कैसे प्राकट्य हुआ?" इसका उत्तर देते हुए भगवान सदाशिव बोले—"प्रलय काल में समस्त चराचर सृष्टि अपने कारणमें लीन हो जाती है, सर्वत्र अन्धकार होता है। केवल एक अद्वय स्वयं प्रकाश ब्रह्म ही रहता है। कल्प के प्रारम्भ में अचिन्त्य कारण से वह सगुण होता है। उस सृष्टि-बीज विशिष्ट ईश्वर में इच्छा का उदय होता है। मैं एक हूँ, दो हो जाऊँ। इससे उस निराकार बीज विशिष्ट सगुण ईश्वर से साकार विग्रह के रूप में सम्पूर्ण ऐश्वर्यमय मेरा यह स्वरूप प्रकट होता है, उसने इस विग्रह से उत्पन्न जल-कारण वारि-अन्तराल में व्याप्त हो जाता है। विभु, सर्वस्वरूप सर्वसाक्षी, सबको उत्पन्न करने वाला, सबका वन्दनीय सबका आदि कारण वह मैं हूँ। मैंने अपने को दो रूपों में व्यक्त किया। दूसरा रूप प्रधान-प्रकृति-गुणमयी माया है, वह तुम हो। तुम्ही बुद्धि तत्व की जननी हो। तुम्हारे साथ ही मुझ काल स्वरूप आदिस्वरूप ने इस अविमुक्त धाम काशी क्षेत्र को भी प्रकट किया,

क्योंकि जब मैंने काल रूप धारण किया तो काल के साथ देश की अभिव्यक्ति भी आवश्यक थी। वह प्रथम देश वाराणसी है। बहुत दिनों तक इस पंचक्रोश विस्तीर्ण काशी क्षेत्र में तुम्हारे साथ विहार करता रहा। मेरी आनन्द क्रीड़ा भूमि होने से इस क्षेत्र का नाम आनन्द कानन हो गया। शिव के कर्णोत्पल मुक्तामय कुण्डल के गिरने से यह क्षेत्र मुक्ति प्रकाश हो गया। अनिर्वचनीय शिवस्वरूप ज्योति यहाँ नित्य प्रकाशित रहती है इसलिए इसका नाम काशी पड़ा। वह अखण्ड ब्रह्मज्योति यहाँ लिंग रूप से प्रकाशित है। काशी अनादिकाल से ज्योति नगरी है, 'काशयति प्रकाशयतीदं सर्वथा।' यहाँ शिव सदैव ज्योति का प्रसार करते हैं, जिससे मोहतम का आवरण हटता है।

वेदों का प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग शिवस्वरूपात्मक है शिव ही परमात्मा है। परमब्रह्म भगवान सदा शिव की चैतन्य रूपिणी शक्ति हो काशी है। यह शिव के प्रकाश से सदा प्रकाशित रहती है।

अन्त में महेश्वर बोले ? हे देवि! "जब पृथ्वी का प्रादुर्भाव हो गया, तब मैंने भारत भूमि में हृदय स्थल पर अपने इस परम पावन अविमुक्त क्षेत्र का स्थापन किया। इस प्रकार यह दिव्यधाम पृथ्वी पर आविर्भूत हुआ। आगे महेश्वर ने कहा, "यहाँ केवल मेरी आज्ञा चलेगी। सृष्टि होने पर भी यहाँ काल, कर्म, यम किसी का भी नियन्त्रण या प्रभुत्व नहीं रहेगा।" काशी पृथ्वी का अंश नहीं मानी जायगी। पृथ्वी का भाग दीखते हुए भी यह पृथ्वी से पृथक रहेगी। महाप्रलय में भी इसका विनाश नहीं होगा। मैं इसे अपने त्रिशूल पर धारण करूंगा।

भगवान सदाशिव ने काशी को त्रिशूल के ऊपर धारण कर रखा है इसलिए इसका प्रलय काल में भी नाश नहीं होता। काशी, अविनाशी विश्वनाथ की पुरी है। जहाँ अविनाशी शिव सदा वास करें, उसका भला विनाश कैसे और किस में सामर्थ्य है उसके विनाश करने की। स्वामी देव तीर्थ पद में काशी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

परम शिव विहार भूमि जयति मातु काशी।
गंगा तिलक हार पाद मुक्ति दासी॥
वाराणसी वह मसान गौरि पीठ भासी।
क्षेत्र मोद विदित अंग पावों सुखरासी॥
मायित से परे परा गिरा वसत काशी।
ब्रह्म की प्रकाश जहाँ प्रकट जग पासी।
अंग-अंग देव तीरथ रोम-रोम वासी।
पंच कोस हम महा ज्योति की प्रकाशी॥

यहीं से सारे विश्व को प्रकाश मिलता है: "काशयति प्रकाशयती दं सर्वं या।" "काश्यांत्रिशूल त्रिशूली परि" अर्थात् काशी शिव त्रिशूल पर स्थित है। यह शिव त्रिशूल अनादि है किन्तु काल के साथ ही यह साकार हुआ है। मनोवृत्ति मानस के विकार काम, क्रोध, लोभ ये तीनों ही त्रिशूल रूप बन्धन के द्वार हैं। शिवत्व की प्राप्ति इनसे ऊपर उठकर ही होती है। योग की दृष्टि से त्रिशूल कुण्डलिनी तत्व है। शरीर में तीन नाड़ियाँ हैं, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना। ये मूलाधार लिंग को घेरे हैं, इन्हीं तीनों का परिचायक त्रिशूल है। शिव के वश में कुण्डलिनी है। अतः उनके हाथ में त्रिशूल शोभित है। शक्ति प्रधान तन्त्र शास्त्र शिव में उत्पन्न तीन शक्तियाँ इच्छा, क्रिया और ज्ञान का उल्लेख करता है। ये तीनों त्रिशूल में स्थित हैं। सम्पूर्ण विश्व प्रपंच इन्हीं तीन शक्तियों का लीला-विलास है। कुछ विचारकों ने जन्म, मृत्यु-पुनर्जन्म के पीड़ा नरक चक्र को त्रिशूल कहा है। यह त्रिशूल अर्थात् जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म के पीड़ा चक्र का भेदन है जो

भी है इच्छा, ज्ञान क्रिया से इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना को जगाकर स्वयं भूलिङ्गमें समाविष्ट कर अपनी आत्मा में लीन हो जाना ही परम निर्वाण है।

परम ज्ञानमय तत्त्व की प्राप्ति शिव की प्राप्ति है। योगी अपनी कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर उसे शरीरस्थ विभिन्न चक्रों का भेदन कर सहस्त्रार स्थित परम शिव से युक्त करता है। परमशिव प्रकाशमान है। यह भारत की जातीय प्रज्ञा की विलक्षणता है कि इस देह को ही काशीपुरी रूप में परिकल्पित कर ब्रह्माण्ड के रहस्य को आलोकित किया। वाराणसी को निरुक्ति में कहा गया है वरुणा असि, वाराणसी, क्रमशः इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना है इसीके ऊपर सहस्त्रार में परम प्रकाशमान शिव विराजमान है। कुण्डलिनी जाग्रत कर अधोमुखी शक्ति को ऊर्ध्वमुखी करके परम शिव में लय कर देना श्रेयस मुख्य है अतः काशी वस्तुतः यात्रा (अन्तर्मुखी) अपनी ही देहपुरी की कुण्डलिनी की शक्ति की ऊर्ध्वमुखी अभिसार यात्रा है। इसमें शरीरस्थ षट्चक्रों को भेदकर जो शक्ति का ऊपर की ओर आरोहण करने की इच्छा है, वह वंदित है पिंड में निवास करने वाली देवी 'षट्चक्र चक्रासना' है। काशी इसी ऊर्ध्वमुखी अभिसार यात्रा का प्रतीक है। जो भी पिण्ड या अन्तरात्मा में है वह ब्रह्माण्ड में व्याप्त शिव शक्ति की अनादि अनन्त लीला से भिन्न नहीं है।

विश्व की प्राचीनतम् नगरियों में है काशी। यह सर्व विद्या तथा भारतवर्ष की संस्कृति की राजधानी के रूप में ही थी, और रहेगी। समूचे भारत की छवि का यहां लघुरूप में दर्शन होता है, भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी श्लाघ्य है, आदर्श है, रमणीय है उनके जीवन्त रूप अब भी यहां देखने को मिलते हैं। भारतीय संस्कृति अध्यात्म युक्त है काशी की संस्कृति का मूल यही अध्यात्म है। कलाओं, विद्याओं और पराविद्या, योग विद्या तथा समस्त ज्ञान-विज्ञान के परमाचार्य भगवान ईश्वर ही तो है। उन्हीं से समस्त विद्याएँ प्रारम्भ हुईं। समस्त मातृकाओं का अर्थात् अक्षरों का उद्भव भगवान शंकर के ताण्डव नृत्य करते समय उनके डमरू से हुआ। उनके हाथ में बजते हुए डमरू से प्रणवध्वनि हुई। प्रणव से मातृकाएँ प्रकट हुईं। उनसे गायत्री मूर्तिमान हुई और वेदमाता गायत्री से वेद प्रगट हुए। डमरू-ध्वनि से उद्भूत सूत्र ही व्याकरण के मूलसूत्र हैं।

योग का उपदेश और समस्त तन्त्रों का उपदेश भगवान शिव ने पार्वती को किया था। इसी परम्परा से विद्याएँ मनुष्य तक पहुँची। भगवान परशुराम, महर्षि विश्वामित्र और पाण्डव अर्जुन शिव के धनुर्वेद के साक्षात् शिष्य हैं। देवर्षि नारद ने तथा गर्गाचार्य ने भी महादेव से ही ज्योतिर्विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था। दक्ष के यज्ञ में शिवगणों ने देवताओं का अङ्ग-भङ्ग कर दिया था। तब उनके अङ्गों का पुनः सन्धान करते हुए महेश्वर ने आयुर्वेद प्रकट किया। रसराज पारद तो शिव का वीर्य ही है। पार्वती शरीरोद्भव गन्धक से मिलकर वह अनेक औषधियों के निर्माण का आधार है। इस प्रकार समस्त विद्याओं के आदि गुरु भगवान शंकर ही हैं।

इस पुरी को काशी, वाराणसी, अविमुक्त क्षेत्र, आनन्द कानन, महाश्मशान, रुद्रावास, काशिका, तपस्थली, मुक्त-भूमि, शिवपुरी, त्रिपुरारि राजनगरी—इन बारह नामों से पुकारा जाता है। काशी में मरने वाले मनुष्य को भगवान शंकर तारक मन्त्र "भवतारं समुपदिशेत" का मन्त्र शंकरजी

मरते हुए प्राणी के दक्षिण कान में देते हैं उसी समय उस मन्त्र के प्रभाव से ही मरणशील प्राणी का सारा पाप नष्ट हो जाता है, और ज्ञान का उदय हो जाता है और वह अविलम्ब मोक्ष को प्राप्त होता है। मरते प्राणी को भगवान शंकर तारक मन्त्र का उपदेश करते हैं, यह बात साधारण व्यक्ति नहीं देख सकता, इसको तो एक उच्चकोटि का समाधिस्थ योगी ही देख सकता है। परमहंस समाधिस्थ योगी रामकृष्णजी काशी आए तो उन्होंने इसे प्रत्यक्ष देखा था। उनके जीवन-चरित में वर्णन है। एक दिन वे दशाश्वमेध घाट से नाव पर बैठकर गंगाजी में मणिकर्णिका घाट की ओर आ रहे थे। मणिकर्णिका के समीप नाव पहुंचते ही परमहंसजी नाव में, किनारे आकर ध्यानमग्न हो गये। मल्लाहों ने समझा कि ये गंगा में कूदने वाले हैं। दौड़कर समीप आये। किन्तु उन्होंने देखा परमहंस जी का मुख तेज से प्रकाशित हो रहा है। वे जलती चिता की ओर स्थिर दृष्टि से देखकर मुस्करा रहे हैं। ध्यान टूटने पर उन्होंने बताया—मैंने देखा कि एक गौरवर्ण पीली जटा वाला त्रिनेत्र पुरुष, सम्भवतः भगवान शंकर, प्रत्येक शव के समीप आकर जीवात्मा को थोड़ा-सा उठाते हैं, उसके सूक्ष्म शरीर के दक्षिण कर्ण में मुख लगाकर कुछ कहते हैं। अवश्य ही वे उन्हें तारक मन्त्र का उपदेश देते होंगे। इसके पश्चात् स्वयं महाकाली आकर अपने हाथों से जीव के सूक्ष्म एवं कारण स्वरूप बन्धनों को खोल देती है। जैसे ही शव चिता पर चढ़ाया जाता है, दोनों वहाँ से पृथक हो जाते हैं। काशी का मणिकर्णिका घाट का श्मशान महाश्मशान है, किसी को स्मरण नहीं कि वहाँ चिता की अग्नि कभी बुझती हो। इसलिए भगवान शंकर का यह तारक उपदेश अविराम वहाँ चलता रहता है।

काशी की पावन भूमि आदिम युग से योगियों का साधना केन्द्र रही है। योगिराज श्यामाचरण लाहड़ी, योगीराज विशुद्धानन्द, तैलंग स्वामी, मंगलीराम योगी, श्रीजड़ी बाबा, योगी कबीर, आनन्दमयी माँ, बाबा कीनाराम, घनश्यामानन्द, आदि सर्व समर्थ योगियों की यह साधनास्थली रह चुकी है। आज भी ऐसे योगियों का वर्चस्व कायम है जो योग के बल पर वही सब कर सकने की क्षमता रखते हैं, जिसे असम्भव माना जाता है। ★

प्रत्येक आत्मा ही अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तः-प्रकृति, दोनों का नियमन कर, इस अन्तर्निहित ब्रह्म-स्वरूप को अभिव्यक्त करना ही जीवन का ध्येय है। कर्म, भक्ति, योग या ज्ञान के द्वारा, इनमें से किसी एक के द्वारा या एक से अधिक के द्वारा, या सबके सम्मिलन के द्वारा यह ध्येय प्राप्त कर लो और मुक्त हो जाओ। यही धर्म का सर्वस्व है। मतमतान्तर, विधि या अनुष्ठान, ग्रन्थ, मन्दिर—ये सब गौण हैं।

× × ×

जहाँ यथार्थ धर्म है, वहीं प्रबलतम आत्मबलिदान है। अपने लिए कुछ मत चाहो, दूसरों के लिए ही सब कुछ करो—यही है ईश्वर में तुम्हारे जीवन की स्थिति, गति तथा प्राप्ति।

—स्वामी विवेकानन्द

सङ्कल्प-शक्ति

श्री जगदीशनारायण उपाध्याय

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने योगवाशिष्ठ में मन को जीतने व वासनाक्षय (वैराग्य तथा विचार) के निम्नलिखित चार उपाय बतलाये हैं—

सत्सङ्गो वासनात्यागोऽध्यात्म-
शास्त्र विचारणम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधश्चे-
त्युपाना मनसो जय ॥

सज्जन संग, तृष्णा त्याग, वेदान्त शास्त्र, विचार और प्राणायाम। इन चारों उपायों का सम्पादन करने पर थोड़े ही समय में मनोजय निष्पन्न हो जाता है। ज्ञानी पुरुष के मुख से शास्त्र का रहस्य "जीव और जगत का तत्व क्या है? मैं क्या देहादि विशिष्ट, जन्म-मरणशील प्राणी हूँ। ईश्वर क्या मुझसे भिन्न है? यह जगत क्या सत्य है? मरण के उपरान्त भी क्या मैं रहूँगा? सुख-दुःख धर्मा-धर्म क्या है? आत्मा और परमात्मा का स्वरूप क्या है? भक्ति और ज्ञान किसे कहते हैं?" सहज में ही ज्ञात हो जाता है। आगे चलकर यही आचरण और विचार-सहज स्थिति अन्तर्मुखता मन में शान्ति तथा आत्माकार में परिणित हो जाती है।

साधक के पिछले लेखों को यदि आप विचार करके देखें, तो मनका नैश्चल्य सम्पादन या संकल्प-शक्ति इसी मनोजय या वासनाक्षय का फल है। अतः इसीलिए महामुनि वशिष्ठ ने आगे मनोलय की व्याख्या करते हुए संकल्प-शक्ति का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है—

नाहं ब्रह्मेति सङ्कल्पात्
सुदृढं बध्यते मनः।
सर्वं ब्रह्मेति सङ्कल्पात्,
सुदृढं मुच्यते मनः ॥

—मनोलय २३

हे राम! 'मैं संसारी हूँ' ऐसी भावना या निश्चय से मन बन्धन को प्राप्त होता है—'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे दृढ़ प्रत्यय से वह मुक्त हो जाता है। जैसा कि मैंने ऊपर की पंक्तियों में वर्णन किया है कि पूर्व जन्मों के संस्कारवान प्राणायाम, वृत्ति निरोध, आत्म-विचार और वासनात्याग से जब प्रमाण, विपर्यय, विकल्प निद्रा और स्मृति इन पांच वृत्तियों का जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में साधक के मन के भीतर समावेश हो जाता है तो फिर वही वृत्तियाँ एक तत्व के रूप में क्षोभ के कारण प्रधान तत्व होकर ईश्वर को प्रणिधान कर देने से भक्ति विशेष के कारण चाह या अभिप्सा के रूप में बदल जाती है और 'सकल त्रिपुटियों का मैं ही प्रकाशक हूँ।' ऐसी भावना से चित्त अत्यनाकार में आकारित हो उठती है। फिर 'अखण्ड एकरस

ब्रह्म ही मैं हूं।' इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्म के साथ ऐक्यानुभव निर्विकल्प समाधि में सिद्ध होता है। सङ्कल्प की दृढ़ता के कारण व्यष्टि भोक्ता, भोग्य और भोग समष्टि स्रष्टा, सृज्य और सृष्टि रूप त्रिपुटीके साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त कर लेते हैं। अन्तःकरण विशिष्ट देहाभिमानी जीव अन्तःकरण-वृत्ति के निरोध (ईश्वर-तत्व में समाधि) द्वारा आतिवाहिक शरीर प्राप्त कर सत्य संकल्प हो जाता है। व्यष्टिभाव आतिवाहिक शरीर में निहित रहता है। चंचल अन्तःकरण में बहु-विषयाकार वृत्ति के स्फुरित होते रहते कोई अभिनव अर्थ सिद्ध नहीं हो पाता। मायोपाधिक ईश्वर से सकल फलों की उत्पत्ति होती है, अतः वह फल सम्बन्धी सङ्कल्प (अन्य समस्त वृत्तियों के निरोधाभ्यास) से स्वीकृत होने पर माया के स्वाभाविक स्पन्दन रूप में परिणत हो जाता है।

पिछले लेखों में साधक ने छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार इसलिए संकल्प-शक्ति को मन से बढ़कर माना है। व्यवहार योगनिष्ठ साधकों के लिए यह समझने का विषय है।

१९ वीं सदी में विज्ञान और धर्म में बड़ा तीक्ष्ण संघर्ष था। तब मन और चेतना विज्ञान की दृष्टि में निन्दा और द्वेष के पात्र थे, परन्तु अब वस्तुस्थिति बदल चुकी है, अब ब्रह्माण्ड की सत्ता के अन्तिम तत्वके तौर पर प्रकृति को निश्चित रूप से अपर्याप्त माना जाता है। निःसन्देह वर्तमान भौतिक विज्ञान और जीव-विज्ञान आदर्शवादी दर्शन का तो कहना ही क्या है। सत्ता के मूल तौर पर विश्वव्यापी चेतना की ओर वैज्ञानिकों का स्पष्ट झुकाव है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का निम्नलिखित अभिमत है—प्रोफेसर एडिंगटन कहते हैं, 'हमारे अनुभव में मन सर्व प्रथम और प्रत्यक्षतम वस्तु है। अन्य सब कुछ दूरवर्ती अनुमान है।' भौतिक विज्ञान की तथाकथित प्रकृति केवलमात्र एक संकेत संस्थान है। एक-दूसरे अति प्रामाणिक विद्वान प्लेंक ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है, 'मैं चेतना को आधारभूत मानता हूं। प्रकृति को चेतना से निर्गत मानता हूं। हम चेतना से परे नहीं जा सकते। प्रत्येक वस्तु जिसके बारे में हम बात करते हैं या जिसे हम सत् के तौर पर स्वीकार करते हैं, चेतना की अपेक्षा रखती है।' श्री जेम्स जीन्स के अनुसार, 'यह विश्व एक गणित-शास्त्रीय विचारके अनुसार मनका एक विचार है' और जो ये पदार्थ हमें विषयीभूत होते दृष्टिगोचर होते हैं, उसका कारण है, उनका 'किसी शाश्वत आत्मा के मन में रहना है। बर्निट्जान ने अपनी पुस्तक 'प्रख्यात वैज्ञानिकों के साथ भेंट' में आइन्स्टीन के सम्बन्ध में विवरण देते हुए कहा है—"ऐसा प्रतीत होता है कि नये विश्व में हमारी धार्मिक अन्तर्दृष्टि को उतना ही प्रामाणिक स्थान प्राप्त है जितना कि वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि को। निःसन्देह उनमें से सबसे बड़े निर्माता की राय में हमारी धार्मिक अन्तर्दृष्टि वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का स्रोत और पथ-प्रदर्शक है।" वर्तमान समय में प्रकृति एक संकेत और प्रतीतिमात्र बन गई है। चेतना और मन वास्तविक सत्तायें हैं। वास्तव में ज्ञान पाने की वैज्ञानिक प्रणाली को धार्मिक अन्तर्दृष्टि पर आश्रित समझा जाता है।

पातंजल योग-दर्शन, श्रीमद्भागवद्गीता

एवं उपनिषद् 'ईश्वर' को अपरिहार्य समझती हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर 'सनातन गुरु' है। उसकी सत्ता एक ऐसी अतिमानस शक्ति है जिसे कर्म फल और क्लेश स्पर्श भी नहीं कर सकते। वह सर्वज्ञ और अनुपम है, उसके प्रति आत्म-समर्पण से ही साधक समाधि का लाभ प्राप्त करता है। (पातंजल योग-दर्शन पाद १, सूत्र २३ से २६) में इसकी व्याख्या निम्न शब्दों में गई है।

ईश्वर प्रणिधानाद्वा। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर:। पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्।

अत: इसीलिए जीवन्मुक्ति आर्य तत्व-ज्ञान का शिखर है। यह भारतखण्ड के योगीजनों के ज्ञान की सर्वोच्च श्रेणी है। ऐहिक विषय-सम्पत्ति चाहे कितनी ही क्यों न मिल जाय, उससे अविनाशी सुख सम्भव नहीं है।' यह सिद्धान्त आर्य लोगों को जैसा सम्यक् रूप से ज्ञात था, वैसा अन्य किसी देश के लोगोंको नहीं। विकारी और विनश्वर विषय सुख से विमुख होकर आत्म-सुख के लिए प्रबल प्रयत्न करना ही आर्य तत्व-ज्ञान का उद्देश्य है। आत्म-सुख कृत्रिम या जन्य पदार्थ नहीं है। अत: यह देह, इन्द्रिय और अन्त:करण के समाधान से उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि आत्मा नित्य सिद्ध और प्रमाण के फलस्वरूप आवरण के नष्ट होने पर हृदय में प्रकाशित होती है। इस रहस्य का पूर्ण परिज्ञान होने पर ही आत्म-विद्या का महत्व प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। प्रतीक या प्रतिमा के बिना चिन्तन असम्भव है। अन्ध-विश्वास मनुष्य का महान शत्रु है, पर हठधर्मी उससेभी बढ़कर है। ईश्वर सर्व व्यापी है। मन में किसी मूर्ति के बिना लाये कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है, जितना कि श्वास के बिना जीवित रहना। स्मृति का उद्दीपन भाव परम्परा के अनुसार जड़-मूर्ति के दर्शन से मानसिक भाव विशेष का उद्दीपन हो जाता है अथवा मन में भाव विशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप प्रतीक या मूर्ति विशेष का आविर्भाव होता है। इसीलिए तो हिन्दू आराधना के समय बाह्य प्रतीक का उपयोग करता है वह आपको बतलावेगा कि यह बाह्य प्रतीक उसके मन को अपने ध्यान के विषय में एकाग्रता से स्थिर रहने में सहायता देता है। जैसा कि आप जानते हैं कि मूर्ति न तो ईश्वर ही है और न सर्व व्यापी ही है। यहाँ एक हिन्दू की सारी धर्म भावना प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कार में केन्द्रीभूत हुआ करती है। जो ईश्वर का साक्षात्कार करके स्वयं ईश्वर बनता है।

ऊपर दिये गये विषय के अनुसार इसी कारण उपनिषदों में "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:॥" (श्वेताश्वरोपनिषद २३ अध्याय ६) के मत से ईश्वर तथा गुरु दोनों की भक्ति का उपदेश दिया गया है। इसके अलावा महर्षि वशिष्ठ ने ब्रह्म का अधिकारी निरूपण करते हुए गुरु-सेवा करने का उपदेश निम्न शब्दों में किया है—

पावनानुग्रह साक्षा-
ज्जायते परमेश्वरात्।
तावन्न सद्गुरु कश्चित्स-
च्छास्त्रं वाऽपिनालयेत्॥

भावार्थ—परमेश्वर का साक्षात् अनुग्रह प्राप्त हुए बिना कोई भी सद्गुरु को प्राप्त नहीं कर सकता या सच्छास्त्र के अभ्यास में रत नहीं हो सकता अर्थात् ईश्वर का अनुग्रह होने पर ही अधिकारी पुरुष गुरु-सेवा और शास्त्राभ्यास में संलग्न हो सकते हैं और उसके फलस्वरूप ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करते हैं। धन-सम्पत्ति या सुख-भोग के लिए अभीष्ट साधन-प्राप्ति ईश्वर-कृपा की वास्तविक परिचायक नहीं है। केवल सद्गुरु की प्राप्ति ही ईश्वर का साक्षात् अनुग्रह समझना चाहिए। श्रीगुरु का दर्शन, उनकी पूर्ण भक्ति, उनकी प्रसन्नता प्राप्ति और परिणामस्वरूप अन्तःकरण की व्याकुलता का नाश, ये सभी शास्त्र में ईश्वर के सार्थक अनुग्रह बतलाये गये हैं।

साधक यदि विचार करके देखें तो बिना सङ्कल्प-शक्ति के इनमें किसी में भी सफल होना असम्भव है। किन्तु केवल दृढ सङ्कल्प-शक्तिमात्र से ये सब तथा इनसे कहीं अधिक बढ़कर सफलता प्राप्त हो सकती है। संकल्प-शक्ति ही मनुष्य के जीवन में उन्नति और अवनति का कारण होती है। उपनिषदों में बतलाया गया है—"सङ्कल्पमयोऽयं पुरुषः।" अर्थात् मनुष्य सङ्कल्प से ही बना हुआ है। हिन्दू धर्म की आचार संहिता को रचने वाले महाराज मनु का कथन है—

सङ्कल्पमूलः कामो,
वै यज्ञः सङ्कल्पसंभवः।
व्रत नियम धर्माश्च,
सर्वे संकल्पजा स्मृता॥

सब प्रकार की कल्पनाओं का मूल यह संकल्प है। यज्ञ संकल्प से उत्पन्न होता है। व्रत (प्रतिज्ञा) नियम, धर्म—सब इसी संकल्प से उत्पन्न होने वाले माने गये हैं।

आज हमें जितने महापुरुष दीख पड़ते हैं, जिनके नाम पर संसार फूल चढ़ाता है और जिन्हें अत्यन्त आदर से स्मरण करता है, उनके जीवन को पवित्र और उच्च बनाने का कारण संकल्प शक्ति ही है। आर्यों की ईश्वरीय और जगत की प्राचीनतम पुस्तक 'वेद' में अनेकों सूत्र इसी विषय में आते हैं, जिनमें बारम्बार यही प्रार्थना की गयी है—'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' अर्थात्—मेरा यह मन पवित्र संकल्प वाला हो। यथा—वेद में अनेक सूत्र इस विषय में आते हैं—

"ॐ यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥"
(वेद—५)

भावार्थ—जिस अमृत मन के द्वारा यह भूत, भविष्यत तथा वर्तमान जाना जाता है, जिससे सात होताओं वाला यज्ञ फैलाया जाता है, वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
(यजुर्वेद)

जो दिव्य मन जाग्रत अवस्था में दूर निकल जाता है और उसी प्रकार सोने की दशा में भी बहुत दूर चला जाता है, यह

दूर जाने वाला ज्योतियों का ज्योति इन्द्रियों का प्रकाश मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यद पूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे
मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद)

कर्मशील, मनीषी, धीर पुरुष जिसके द्वारा परोपकार क्षेत्र में तथा जीवन-संघर्ष में बड़े-बड़े कार्य कर दिखाते हैं, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अन्दर एक अपूर्व सत्ता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद)

जो नये-नये अनुभव कराता है, पिछले जाने हुए अनुभव कराता है, संकट में धैर्य धारण करता है, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अन्दर एक अमर ज्योति है, जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता है, वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

ॐ येनेदं भूतं भुवनं भविष्य-
त्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद)

जिस अमृत मन के द्वारा यह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान जाना जाता है, जिससे सात होताओं वाला यज्ञ फैलाया जाता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद)

भावार्थ—जिसमें ऋचाएं, साम, यजु, इस प्रकार टिके हुए हैं जैसे रथ की नाभि में अरे, जिसमें इन्द्रियों की सारी प्रवृत्ति पिरोयी रहती है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्ने-
नीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद)

भावार्थ—अच्छा सारथी जिस प्रकार वेगवान घोड़ों को बागों से पकड़कर चलाये जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्यों को को लगातार चलाता रहता है, जो हृदय में रहने वाला है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

प्रारब्ध कर्म संकल्पों द्वारा ही क्रियामात्र होते हैं, जैसा कि कहा गया है—"विनाश काले विपरीत बुद्धिः" इसलिए मनुष्य यदि अपने संकल्प को विशुद्ध रखे और जब वह मलिन और अपवित्र होने लगे तो यह जान-कर कि मुझ पर कोई भारी विपत्ति आने वाली है, शीघ्र ही अपने संकल्प और और विचारों को शुद्ध और पवित्र बनाले तो कभी भी दुर्भाग्य उसको भयभीत नहीं कर सकता। शुद्ध विचार वाले मनुष्य पर यदि अकस्मात कोई विपत्ति आ भी जाय तो उसका बोझ तुरन्त ही दूसरे लोग बाँट

लेते हैं। अर्थात् अपनी सहायता और सहानुभूति से उसकी विपत्ति को तत्काल ही दूर कर देने का यत्न करते हैं, परन्तु इसके विरुद्ध दुर्जन को तत्काल दुःख में डालने के लिये सबके सब तैयार हो जाते हैं। सुतरां जो मनुष्य दुःखों को अपने जीवन में कम करने की इच्छा करता है, उसको चाहिए कि वह संकल्प-विद्या-प्रवीण बने और उसका सुप्रयोग करना सीखे। जैसे उगते हुए पौधों को उखाड़ कर फेंकना अति सुगम है, परन्तु जब वृक्ष बन जाय, तब फिर उसको जड़ से उखाड़ना मनुष्य की शक्ति के बाहर हो जाता है। ठीक ऐसे ही उत्पन्न होते दुष्ट संकल्पों का उच्छेदन और उनके स्थान में पवित्र तथा शुद्ध संकल्पों का संयोजन करना अतीव सुगम होता है, परन्तु वही जब एक वृक्षाकार रूप धारण कर लेता है, तब फिर उसका नष्ट करना कठिन हो जाता है। सुतरां जो उठते हुए दुष्ट संकल्प को उसी समय मिटा देते हैं, वे उसके परिणामस्वरूप कर्म और कर्म के फल-दुःख से भी बचे रहते हैं। इसी कारण 'वेद' में बारम्बार यह प्रार्थना आई है कि यह मेरा मन पवित्र संकल्पों का स्रोत बने। संकल्प विद्या की शक्ति का पूरा-पूरा अनुभव करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि संसार के प्रत्येक पदार्थ में यह विद्या विद्यमान है। आज तक जितनी मानसिक शक्ति जैसे मैस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म, टेलीपैथी, स्प्रिचुआलिज्म आदि मनुष्यों को विदित हुई है। उपर्युक्त जितने प्रयोगों का सम्मोहन-शक्ति द्वारा होना बतलाया गया है, उन सब में मुख्य भाग संकल्प-शक्ति का ही है। उन सबमें यही अलौकिक-शक्ति काम करती है।

मार्कोनी के 'बिना तार के तार वाले यन्त्र' ने संकल्प-शक्ति को अत्युत्तमता से सिद्ध किया है। उससे इसके प्रबल अस्तित्व का प्रत्येक बुद्धिमान को निश्चय हो जाता है। मार्कोनी महाशय कहते हैं—

"एक शब्द अथवा ऐसा ही कोई स्वर—वायु-मण्डल में उसी प्रकार की गति उत्पन्न करता है, जिस प्रकार झील में एक कंकरी के डाल देने से तरंगें उठने लगती हैं। शब्द की ये तरंगें दूर-दूर तक पहुंचती हैं, चाहे कितना दूर का अन्तर क्यों न हो, वे टेलीग्राफ के प्रत्येक यन्त्र को अपना अस्तित्व अनुभव कराती हैं। आकाश के सूक्ष्म मण्डलों (ईथर) पर संकल्प की तरंगें दौड़ती, काम करती और दूर तक पहुंचती रहती हैं। यदि मार्कोनी साहेब अपने इस अलौकिक यन्त्र का आविष्कार न करते तो दुनिया तथा तर्क पर ही भरोसा रखने वाले बहुत से मनुष्यों का विश्वास ही न होता। ईथर की शक्ति जो आकाश में विद्यमान है, जिस पर संकल्प की तरंगें दूर तक दौड़ती हैं, हमारे मस्तिष्क में भी विद्यमान है। निरन्तर विचार से उसमें अन्दर गति उत्पन्न होती है और मस्तिष्क से उसी प्रकार निकलती है, जिस प्रकार विद्युत की धारायें निकला करती हैं। विचार की वे धारायें जो अनिश्चित और संकल्प-शक्ति की सहायता के बिना बाहर को निकलती हैं, शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं। किन्तु विचार-शक्ति की वे तरंगें जिनके साथ संकल्प-शक्ति का प्रबल बल विद्यमान होता है, मनुष्य के मस्तिष्क से निकलकर रुकावट और विरोध होते हुए भी उस समय तक निरन्तर दौड़ती रहती हैं, जब तक कि उनको ऐसा कोई मन

न मिल जाय जो उस विचार के साथ सहानुभूति और अनुकूलता रखता हो।

यदि आप घृणा, धिक्कार, फटकार या शत्रुता के विचार इसी संकल्प-शक्ति की सहायता से किसीके लिए भेजेंगे तो वे विचार जीवित शक्ति बन जायेंगे और वे तब तक निरन्तर दौड़ते रहेंगे, जब तक कि उसके मन तक न पहुंच जांय, जिसके लिए वे भेजे गये थे। वे उसके अतिरिक्त और बहुत से मनों के अन्दर भी अपना प्रतिबिम्ब छोड़ जाते हैं। प्रेम का जो प्रत्येक विचार बाहर आता है, अपने परिणाम में प्रेम की पूरी शक्ति लेकर उसी के पास वापस आ जाता है, इसीलिए यह कहावत प्रसिद्ध है कि—'मन का मन साक्षी है' और फारसी में कहा है कि—'दिल रा बदिल राहे अस्त।' क्योंकि आसमान में अनेक भांति के विचार चक्कर लगाते रहते हैं, इस विभिन्न प्रकार के विचार को मनुष्य में ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है, वह उसी प्रकार के विचारों को आकाश से अपनी ओर खींच लेता है। यही कारण है, यदि कोई बुरा विचार मन में उत्पन्न हो जाय तो फिर उसी प्रकार के विचारों की लड़ी मन में बन जाती है यह तब तक बन्द नहीं होती जब तक कि मनुष्य स्वयं अपनी प्रबल संकल्प-शक्ति से अपने मन को उस ओर से नहीं रोक लेता।

आकाश में उत्तम से उत्तम निकृष्ट से निकृष्ट विचार विद्यमान हैं, इसलिए केवल उन विचारों को ग्रहण करने के लिए मनुष्य को एकाग्र चित्त से उद्यत होना और उस ओर चित्तवृत्ति का लगाना ही पर्याप्त है। जब तत्वदर्शी किसी पदार्थ पर विचार करता है, तब उसी सम्बन्ध में नवीन बातें उसके मन में उठने लग जाती हैं और वे ऐसी बातें होती हैं जो स्वयं सोचने वालोंके लिए सर्वदा नई और विस्मित कर देने वाली होती हैं। इसी प्रकार आविष्कार करने वाला जब अपने आविष्कार के सम्बन्ध में विचार करने के लिए अपने चित्त को एकाग्र करके एकान्त में बैठ जाता है, तब वह आकाश में से अपने उपर्युक्त विचारों को उसी प्रकार संग्रह कर लेता है जिस प्रकार एक ताड़ का वृक्ष भूमि से मधुर रस को अपने अन्दर खींच लेता है। ठीक इसी प्रकार से एक आविष्कार करने वाला अपने मन को अन्य विचारों से शून्य और एकाग्र करके अपने उपयोगी विचारों को अपने अन्दर आने का अवसर देता है एवं निरन्तर अभ्यास के अन्त में एक विख्यात आविष्कारक बन जाता है।

अध्यात्म विद्या के गुरु जब अपने किसी शिष्य से कोई काम करवाना चाहते हैं, तब उसको पत्र आदि नहीं लिखा करते प्रत्युत अपने विचारों को ही उसके मन में रख देते हैं। ये विचार उसके अन्दर पहुंचकर उसको वही काम करने के लिए प्रेरणा करते हैं, जिसका करना उसके गुरु को अभिप्रेत होता है। यही मानसिक प्रेरणा है, यही गुप्त आध्यात्मिक सम्बन्ध और आत्मिक शक्ति है, जो पिछले महात्मा अपने शिष्यों को दिया करते थे। यदि किसी के प्रति बुरे विचारों की भावना करोगे तो वे वहां दुःख और व्याकुलता देने के पश्चात् अपने सजातीय अन्य विचारों को तुम्हारे लिए उत्पन्न करेंगे अर्थात् जितने भी घृणा के विचार तुम दूसरों के निमित्त उत्पन्न करोगे, उनसे कहीं अधिक

मात्रा में लौटकर तुमको मिलेंगे और यदि प्रेम के विचार भेजोगे जो वैसे ही प्रभावशाली रहेंगे, और वे उस मन तक अवश्य पहुँचेंगे, और अपने परिणाम में अधिक प्रेमको तुम्हारे निमित्त उत्पन्न करेंगे। यही कारण है कि जब तुम्हारा मन किसी से घृणा करता है तो वह भी उसी प्रकार तुमसे घृणा करता है। हाँ, यदि तुम उसकी घृणा को दूर करना चाहते हो तो उसके लिए अपने से प्रेम भरे विचारों को भेजो। वे विचार उसके मन का सुधार करेंगे और फिर अपने परिणाम में तुम्हारे लिए प्रेम को उत्पन्न करेंगे। इसी कारण हमारे प्राचीन शास्त्रों ने उपदेश किया है कि प्रत्येक मनुष्य को जीव मात्र की भलाई के लिए प्रबल शक्ति के साथ यह प्रार्थना करनी चाहिए—

सर्वेभवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणिपश्यन्तु
मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सम्पूर्ण जीवों को सुख प्राप्त हो; सब प्राणी नीरोग हों, सबका कल्याण हो, किसी को भी दुःख न हो।

जब मनुष्य अपने अन्दर से समस्त शत्रुता के विचार निकालकर संसार के लिये भलाई और सुख की प्रार्थना करता है, तब उसके मन में विश्वमात्र का प्रेम जाग्रत होता है, तब संसार का कोई पदार्थ उसके लिये भयोत्पादक नहीं रहता।

ॐ अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं
द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत-
रादधरादभयं नो अस्तु॥

भावार्थ—अन्तरिक्ष में हमारे लिये अभय हो, इन दोनों द्यौ और पृथ्वी में अभय हो, अभय पीछे हो, आगे हो, ऊपर-नीचे हमारे लिये सर्वत्र अभय हो।

ॐ अभयं मित्रादभयम-
मित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मित्रम् भवन्तु॥
(यजुर्वेद)

भावार्थ—हम मित्रों से अभय हों, शत्रुओं से अभय हों, जाने हुए परिचितों से अभय हों, और आगे आने वाले हैं, अपरिचित हैं उनसे भी अभय हों। रात्रि और दिन में हम निर्भय रहें, समस्त दिशाएँ हमारे लिए मित्र रूप हों। (अथर्व०—१९/१५/५/६)

स्वामी विवेकानन्दजी महाराज इसी शक्ति का वर्णन करते हुए अपने राजयोग में इस प्रकार लिखते हैं—

योगी को चाहिए कि वह रात्रि को सोते समय और प्रातःकाल जागने पर चारों दिशाओं में मुँह करके प्रबल संकल्प शक्ति से सारे संसार की भलाई और शान्ति के अर्थ अपने विचारों को छोड़े। यथा—

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।

अथर्व०—१९

भावार्थ—द्यु लोक शान्ति दे, अन्तरिक्ष शान्ति दे, पृथ्वी लोक शान्ति दे, जल प्राण—शान्ति दे, रोग नाशक औषधियाँ शान्ति दे, भोज्य वनस्पतियाँ शान्ति दे, सबके सब देव शान्तिदायक हों, ज्ञान शान्ति दे, सब कुछ शान्ति ही दे, शान्ति भी सचमुच शान्ति हो, और वह ऐसी शान्ति मुझे प्राप्त हो।

घृणा का प्रत्येक विचार जो मनुष्य के अन्दरसे बाहर आता है, वह वापस अपने पूरे बल के साथ उसी के पास आ जाता है, और ऐसा होने में उसे कोई वस्तु रोक नहीं सकती। इसी प्रकार कोई मनुष्य अनुमान नहीं कर सकता कि अज्ञानता से विचारे हुये घृणा, प्रतिकार और कामी तथा अन्य घातक विचारों के भेजने से कितने जीवन नष्ट होंगे और कितनों की हानि होगी। इसलिए विचारशक्ति के महत्व को समझो और उसको सर्वदा पवित्र तथा निर्मल रखने का प्रयत्न करो और प्रतिदिन समस्त जीवमात्र के कल्याण के लिये प्रार्थना किया करो, इसीसे तुम्हारा और सबका भला होगा।

विचारों द्वारा मनुष्य के शरीरमें स्वस्थता और रोग दोनों ही का संचार किया जा सकता है। विचार मुख को उत्पन्न और नाश कर सकता है। वह मुख-मण्डल को सहसा पीला कर देता है। मुँह और होठों को सुखा देता है। यही विचार मुख-मण्डल को प्रफुल्लित, रक्त की गति को तीव्र और शरीर पर कान्ति प्रदान करता है। यही देह कंपाते हुए, नेत्रों से आँसुओं का प्रवाह जारी कर देता है, मन की गति इसी के द्वारा शिथिल और क्षीण हो जाती है। यही मनुष्य को आनन्दमय बना देता है और यही मनुष्य को निराशा की विकराल खोह में ढकेल देता है। इसी के अकस्मात् प्राप्त आनन्द को न पचाकर मनुष्य फूलकर मर जाता है और कभी भय के कारण लहू सूख जाने अथवा मन की गति रुक जाने तथा भय, शोक और असह्य दुःख के कारण तुरन्त और अकस्मात् मृत्यु हो जाती है, जहाँ यह मनुष्य को मृत्यु के मुख में तुरन्त ढकेल सकता है, वहाँ यही उसे स्वास्थ्य, आनन्द और सुख भी प्रदान कर सकता है।

वस्तुतः हमारी दुनिया वह नहीं है जिसको हम मानते हैं, प्रत्युत वह है जिसका हम विचार करते हैं। मनुष्य विचारों का एक पुतला है। जैसे उसके विचार होते हैं, वैसा ही वह बन जाता है। इसलिए यदि हम रोग के विचार को एक समय तक निरन्तर बनाये रखेंगे तो निराश होना पड़ेगा, रोग अपना स्वरूप अवश्य दिखलायेगा, अर्थात् जैसा विचार करोगे वैसे ही हो जावेगा।

अतः प्रतिदिन प्रति क्षण मनुष्य को चाहिये कि वह निराश न हो, वह सर्वत्र आशाजनक प्रसन्नता, स्वास्थ्य और सफलता के विचारों को मन में धारण करे, सुख और आशा की तरंगें रक्त की गति पर ही उत्तम प्रभाव डालेंगी और उसको शुद्ध तथा लाल करके स्वास्थ्य के सुप्रभाव को सम्पूर्ण देह में बाँट देंगी, जिससे तुम अपने स्वास्थ्य को अच्छा और शरीर को व्याधियों से सुरक्षित रख सकोगे। प्रत्येक मनुष्य सुन्दरता स्वास्थ्य और सुखमय जीवन की इच्छा करता है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह सौ वर्ष तक जीवित रहे। वह सौ वर्ष तक उस प्रकार का जीवन नहीं चाहता जो रोते, झींकते हुये

खाट पर पड़े हुये औषधियों का सेवन करते हुये कटे। वह ऐसा जीवन चाहता है जो काम करते हँसते-खेलते हुए बीते। वह इसीके लिए ईश्वर के सम्मुख सिर झुकाकर प्रार्थना करता है।

पश्येम शरदश्शतं जीवेम शरदश्शतं शृणुयाम शरदश्शतम्। प्रब्रवाम शरदश्शतमदीनाः स्याम शरदश्शतम्।

(य० ३६)

भावार्थ—मैं सौ वर्ष तक देखूँ, सौ वर्ष तक जीवित रहूं, सौ वर्ष तक सुनूँ, और सौ वर्ष-पर्यन्त बोलूँ, सौ वर्ष तक सुखी और स्वतन्त्र जीवन भोगूँ।

धार्मिक तथा लौकिक दोनों विषयों में मनुष्य उतना ही सफल होता है जितना कि उसका संकल्प दृढ़ होता है। यदि कोई किसी कार्य में असफल है, इसका कारण उसका दुर्भाग्य नहीं बल्कि उसके संकल्प की निर्बलता है। मनुष्य के अन्दर यह बहुमूल्य शक्ति ऐसी गुप्त है कि जो कोई इससे काम लेना शुरू कर देता है उसको ही यह महान और उच्च बना देती है। अटल संकल्प में एक बलवान शक्ति होती है, जो अपनी अनुकूल अवस्था को स्वयमेव अपनी ओर खींच लेती है। इस कारण यदि आप जीवन यात्रा में आप सफल होना चाहते हैं तो इस शक्ति को अन्दर उत्पन्न करें क्योंकि जीवन की कठिनाइयों को दूर करने वाली यही एक शक्ति है। जिसमें यह शक्ति है, वे अपने विचारों को बलवान बनाकर दूर तक भेज सकते हैं। परन्तु जिनमें यह नहीं है वे ऐसा नहीं कर सकते, और यही कारण है कि कुछ मनुष्य निर्बल विचार वाले मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सफल यशस्वी और ऐश्वर्यवान हो जाते हैं। संकल्प शक्ति ही मन को एकाग्र करके मस्तिष्क की ओर विचारों के आकर्षण में सहायक होती है। आकर्षण का यह नियम है कि उसका झुकाव अपने सहधर्मी पदार्थ की ओर अधिकतर होता है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने सहधर्मी पदार्थ को अपनी ओर खींचता है। इसलिए जो मनुष्य जैसा बनना चाहता है, उसको दृढ़ संकल्प के साथ अपने अन्दर वैसे ही विचार उत्पन्न करने चाहिए और वे विचार अपने सहधर्मों को अवश्य अपनी ओर खींच लायेंगे, जिसका परिणाम यह होगा कि वह अपने उद्देश्य में अवश्य सफल होगा। इसलिये यदि तुम कोई काम करना चाहते हो तो तुम काम की छोटाई-बड़ाई की ओर न देखा करो, प्रत्युत अपने विचारों के न्यूनाधिक्य पर ध्यान रखा करो, क्योंकि काम के उसकी छोटाई या सुगमता के कारण सफलता नहीं होती, प्रत्युत उस काम के करने में तुम्हारी संकल्प शक्ति की न्यूनाधिकता के अनुसार सफलता होगी। जो बात तुम्हें करनी हो, उसके लिये ही विचार न किया करो और जब जिस काम को करने का विचार करो तो फिर उसका दूसरे निर्बल विचारों की तरंगों के नीचे दबने न दो और किसी ऐसे मनुष्य की सम्मति की परवाह न करो जो तुमको अपने विचारों को कठिनाइयों के कारण छोड़ देने का उपदेश कर रहा हो। ऐसे मनुष्य स्वयं निर्बल हृदय और निर्बल विचारों के होते हैं, इसलिए वे साधारण बातों को असम्भव बातों में गिन लेते हैं। और सच तो यह है

कि ऐसे मनुष्योंके विचारों की शक्ति को कभी अनुभव नहीं किया, यदि किया हो तो कभी भी किसी के साहस और विचार को, (यदि वह विचार किसी बुराई के करने अथवा ऐसे कर्म करने का न हो जिसके करने से उसकी जान जोखिमें हो और मनुष्य समाज में अशान्ति उत्पन्न होने का भय हो)। न गिरने, वरन् उसका साहस तोड़ने के स्थान में अपने प्रबल विचारों को साथ मिलाकर और भी अधिक पुष्ट करते हों और सफलता के आदर्श तक पहुंचाने में सहायता देते हों। जब मनुष्य एक बार दृढ़ विचार करके खड़ा हो जाता है, तब चाहे उसके मार्ग में कितनी ही कठिनाइयां क्यों न हों वह सबको पार कर जाता है। कोई वस्तु उसको अपने उद्देश्य से नहीं रोक सकती, वरन् ऐसा पुरुषार्थी जो अपनी आभ्यन्तरिक शक्तियों से काम लेने लग जाता है, वही महान् पुरुष बन जाता है, और जो इनकी ओर ध्यान नहीं देते, वही अपनी जीवन यात्रा में पीछे रह जाते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती को साधारण सन्त से वर्तमान काल का ऋषि बनाने वाली यदि कोई वस्तु हो थी, तो वह केवल उनकी संकल्प शक्ति थी। समस्त भारतवर्ष उनके विचारों से विरोध रखता था, परन्तु जब वह मनस्वी एक बार अपने क्षेत्र पर आरूढ हो गया तो कोई भी मनुष्य उसके सम्मुख खड़ा न हो सका। इसका कारण उनकी अगाध विद्या ही न थी प्रत्युत दृढ़ संकल्प शक्ति और उस शक्ति के पूर्ण विश्वास का होना था। इसी शक्ति के भरोसे पंजाब केसरी महाराज रणजीतसिंह अटक नदी की खाली को घोड़ों के खुरपुटों से पद रौंद डाला और अपनी सेना को पार कर दिया 'जाके मनमें अटक है वह ही अटक रहा है। जाके मन में अटक नहीं उसको अटक कहाँ।' सचमुच मन के अन्दर रुकावट नहीं तो फिर कोई ऐसी शक्ति नहीं जो हमको अपने उद्देश्य की पूर्ति से तथा अपने जीवन को सुखी और सार्थक बनाने से रोक सके।

दृढ़ और बलवान संकल्प शक्ति के कारण मनुष्य में ऐसी योग्यता आ जाती है कि वह अपने विचार को बहुत बड़ी शक्ति दे सकता है। अपने लक्ष्य पर फिर वह अपने विचार को उस समय तक स्थिर रखता है, जब तक उसका अभीष्ट प्राप्त नहीं होता। यदि किसी मनुष्य में टाला-टाली प्रकृति है तो यह समझ लेना चाहिये कि उसकी संकल्प शक्ति निर्बल है और उससे कोई काम नहीं हो सकेगा। जो अपना दृढ़ विचार बनाकर फिर दूसरों की हर सम्मति के कारण उसको बदल देता है तो उससे भी उसकी संकल्प शक्ति का पता मिलता है मानो वह दूसरों की सम्मति का दास है, क्योंकि उसने अपने विवेचना शक्ति को खो दिया है। वह अपनी नहीं प्रत्युत दूसरों के विचारों के अनुसार कार्य कर रहा है। ऐसा करता हुआ वह दिन-पर-दिन अपनी विचार शक्ति को क्षीण कर रहा है, जिसके कारण प्रायः उसे अपने कामों में कठिनाई और असफलता का मुंह देखना पड़ेगा। इस कारण इस शक्ति महत्व को समझो, किन्तु दृढ़ दुराग्रह और उच्छृंखलता को दृढ़ विचार शक्ति न समझ लेना। विचार शक्ति और दुराग्रह आदि में महान् अन्तर है। पहिली आचार की दृढ़ता और श्रेष्ठता का परिणाम है तथा दूसरी निर्बलता का फल है।

संकल्प-शक्ति को पूरा विकास देने के लिये दृढ़ आत्म-विश्वास की आवश्यकता है और आत्म-विश्वास की दृढ़ता आस्तिकता अर्थात् ईश्वर-भक्ति से होती है। जब मनुष्य सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ ईश्वर का सहारा लेकर सारे कार्यों को उसको समर्पण करके अनासक्ति और निष्काम मन से उसके लिए ही और अपने को केवल उसका एक कारण (साधन) समझकर कर्तव्यरूपसे करता है तो उसकी स्वयं अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ भी अगाध और असीम हो जाती हैं। यही कारण है कि ईश्वर-भक्तों द्वारा जो महान् कार्य और अद्भुत चमत्कार अनायास साधारणतया प्रकट हो जाते हैं, उनके अनुकरण करने में संसार की सारी भौतिक शक्तियाँ अपना पूरा बल लगाने पर भी असमर्थ रहती हैं।

क्योंकि इनके सारे संकल्प ईश्वरके समर्पण और उसकी प्रेरणासे होते हैं, इसलिए वह जो संकल्प करते हैं वही होता है। इनकी कोई इच्छा अनुचित अथवा स्वार्थमय नहीं होती, किन्तु सारे प्राणियों के कल्याणार्थ ईश्वरार्पण होती है, इसलिए वह जो इच्छा करते हैं वही होता है।

वह कोई शब्द अनुचित अनावश्यक और असत्य नहीं बोलता, उसकी वाणी ईश्वर-समर्पित होती है इसलिये उसकी वाणी से जो शब्द निकलते हैं वैसा ही होता है। उसके कार्य आवश्यक और स्वार्थ सिद्ध के लिये नहीं होते, किन्तु सब प्राणियों के हितार्थ निष्काम भाव से ईश्वर के आज्ञानुसार कर्तव्य रूप से होते हैं, इसलिए वह उनको पूरी लगन और दृढ़ता से करता है। संसार की कोई शक्ति उसको अपने कर्तव्य से नहीं हटा सकती।

प्रस्तुत लेख 'हिन्दू धर्म के अध्यात्मवाद का विज्ञान से समन्वय-सिद्धान्त' का तीसरा आधार है।

याद रखने योग्य सन्त-वाणी

जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल।
तोकूँ फूल के फूल हैं, वाकूँ है तिरशूल॥

कबिरा संगत साधु की, हरै और की व्याधि।
ओछी संगति क्रूर की, आठो पहर उपाधि॥

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

कालि करै सो आजु करि, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगो कब्ब?

साँच बरोबर तप नहीं, झूँठ बरोबर पाप।
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप॥

मोक्ष अवस्था कैसे प्राप्त हो

● श्री स्वामी विद्यानन्दजी ●

★

यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है कि मोक्षावस्था प्राप्त होने का साधन और उपाय क्या है। क्या ज्ञान की आराधना मोक्ष प्राप्त करा सकती है या केवल कर्मयोग का मार्ग मोक्ष प्राप्ति का कारण बन जाया करता है। इस प्रक्रिया का विवरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं।

ज्ञान कर्मोपासनासमुच्चयात्तत्सिद्धिः

तत्त्वमसि अ० २ सूत्र ७१

अर्थात्

ज्ञान कर्म उपासना के एक साथ अनुष्ठान से उस मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ज्ञान और कर्म (प्रयत्न) आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। शरीर की रचना भी इन दो गुणों की साक्षी है। शरीर में दो प्रकार की इन्द्रियाँ हैं। (१) ज्ञान इन्द्रियाँ, (२) कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा के कर्मज्ञ गुण को सार्थक करने के लिए हैं और कर्मेन्द्रियाँ उसके ज्ञान गुण को सफल करने के लिए। जानना जानने के लिए नहीं करने के लिए होता है। प्राप्तिके लिए कर्म की अपेक्षा है और कर्म को दिशा निर्देशन ज्ञान से मिलता है। परन्तु अपंग अंध न्याय के अनुसार ज्ञान के बिना कर्म अन्धा और कर्म के बिना ज्ञान लंगड़ा है। दोनों के संयोग-सहयोग से जीवन-यात्रा सम्भव है। किन्तु ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर आत्मा की गाड़ी को कहाँ ले जायेंगे? यदि ज्ञान और कर्म दोनों का लक्ष्य कोई नहीं है तो वे बन्धन से मुक्त बनाने के स्थान पर उसे बन्धन में और दृढ़ कर देंगे। अतः दोनों का समान उद्देश्य है आत्मा को परमात्मा के निकट पहुँचाकर उसे मोक्ष लाभ कराना। ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय करते हुए यजुर्वेदने बताया है कि कर्म (अविद्या) से मृत्यु को पार करके आत्मा ज्ञान (विद्या) के द्वारा अमरता को प्राप्त करता है।

परलोक जाते जीवात्मा के लिए विद्या (ज्ञान) तथा कर्म दोनों सहयोगी हैं। जब फल-प्राप्ति में दोनों का सहयोग है तो अकेले ज्ञान को स्वतन्त्र रूप से फलोत्पादक नहीं माना जा सकता। उसका उपयोग कर्म का अंग होकर ही सम्भव है। छान्दोग्य० में कहा है कि "जो कर्म ज्ञानपूर्वक किया जाता है वह अधिक बलवान होता है। कर्म जीवन की गाड़ी में इंजन है तो ज्ञान उसमें ब्रेक का काम देता है। कर्म के इंजन के बिना जीवन की गाड़ी चलती नहीं। पर ज्ञान का ब्रेक न हो, तो कहीं-न कहीं उसके टकराकर टूट जाने का भय बना रहेगा। इसलिए ज्ञान और कर्म में समन्वय के बिना कार्यसिद्धि सम्भव नहीं। यह अमरता परमेश्वर के सान्निध्य में मिलती है।

'यस्य छायाऽमृतम्।'

(यजु० २५/१३)

जिसकी छाया में मोक्ष मिलता है—में यही भाव निहित है। जिस प्रकार तापगुण से युक्त अग्नि के सान्निध्य में उष्णता प्राप्त होती है, उसी प्रकार आनन्दस्वरूप परमात्मा

की उपासना से आनन्द की उपलब्धि होती है, अतः ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए परमेश्वर की ओर बढ़ना मोक्षाभिलाषी का कर्तव्य है। बृहद्० में लिखा है "ब्राह्मण लोग वेदानुवचन, कर्म करते हुए परमात्मा को जानने का यत्न करते हैं। उसी को जानकर वे मुनि होते हैं। इस प्रकार के अनेक शास्त्रवचन ज्ञान-कर्म के समुच्चय के बोधक हैं।

शंकराचार्य अपने वेदान्तसूत्रों के भाष्य में लिखते हैं—"अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों का वही फल है जो ज्ञान का।" इस पर शंका हुई—"ज्ञान तथा कर्म के फलों में तो भेद है, फिर दोनों का एक-सा फल कैसे हो सकता है?" इस शंका का समाधान स्वयं शंकराचार्य इस प्रकार करते हैं—"इसमें कोई दोष नहीं। दही खाने से ज्वर हो जाता है और विष खाने से मृत्यु। परन्तु दही में गुड़ मिला दिया जाय तो उससे तृप्ति होती है, और विष को विशेष विधि से सेवन किया जाय तो उससे पुष्टि होती है। इसी प्रकार ज्ञान तथा कर्म के संयोग से मोक्ष की प्राप्ति होती है।" अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने बृहद्० के पूर्वोद्धृत वचन (४/४/२२) को प्रस्तुत किया है। ये कर्म ज्ञानोत्पत्ति के लिए किये जाते हैं। इन कर्मों के अनुष्ठान से जब ज्ञान प्राप्त हो गया तो इन कर्मों से अभीष्ट फल की प्राप्ति हो गई। तब ज्ञान द्वारा इनके नाश का प्रश्न ही नहीं उठता। गीता में कहा गया है कि ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। यह भी निर्विवाद सत्य है कि बिना भोगे कर्मों का क्षय नहीं होता। तब इन परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में किस प्रकार सामञ्जस्य हो सकता है? कर्मफल प्राप्ति की प्रक्रिया को समझने पर ही इस समस्या का समाधान सम्भव है। कर्म तीन प्रकार के माने जाते हैं—क्रियमाण, सञ्चित तथा प्रारब्ध। क्रियमाण कर्म वे हैं जो वर्तमान जीवनकाल में किये जाते हैं। इनमें से जिनका फल इस जीवनकाल में नहीं भोगा जाता वे संचित कर्मों की राशि में जा पड़ते हैं। प्रारब्ध कर्म वे हैं जिनको भोगने के लिए आत्मा को देह प्राप्त हुआ है। जिनको भोगने का कार्य अभी प्रारम्भ नहीं हुआ, वे अनारब्ध कर्म कहाते हैं। प्रारब्ध कर्मों का क्षय तो बिना भोगे नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञानाग्नि संस्काररूप में अवस्थित संचित कर्मों में से केवल 'अनारब्ध' कर्मों का नाश होता है।

एक ओर शंकर कहते हैं कि ज्ञान तथा कर्म के संयोग से मोक्ष की प्राप्ति होती है (शां० भा० ४/११/२६), दूसरी ओर वे कहते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान कर्म का प्रवर्तक नहीं, किन्तु उच्छेदक है। तदनुसार ज्ञान कर्म का साधक नहीं रहता है। यहाँ कर्म को दो अर्थों में लिया गया है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु कर्म की प्रवर्तक है तो इसका अर्थ होता है कि वह कर्म करने में प्रवृत्ति करती है। इस अर्थ में ब्रह्म-ज्ञान कर्म का उच्छेदक है तो वहाँ कर्म करने से तात्पर्य नहीं, कर्म का फल भोगने से है। फल सकाम कर्म का मिलता है। अतएव ब्रह्मज्ञान को सकाम कर्म का उच्छेदक माना जा सकता है। शंकर को यही अभिमत है—यह उनके इन शब्दोंसे स्पष्ट हो जाता है—"फलासक्ति का परित्याग करके अनुष्ठित यज्ञादि कर्म मुमुक्षु के लिए ज्ञान प्राप्ति में सहायक होते हैं।" यहां शंकर ने स्पष्टतः कर्मको ज्ञान का सहकारी माना है।

ईश्वर की पूजा करना अन्तर्निहित आत्मा की ही उपासना है।

—स्वामी विवेकानन्द

प्रशंसा से बचो

तुम सदा अपनी प्रशंसा ही सुनना चाहते हो। यह तुम्हारी कमजोरी है। तुम अपनी निंदा करने वालों को घृणा की दृष्टि से देखते हो यह तुम्हारी कायरता है।

तुम्हारी प्रशंसा करने वाला व्यक्ति तुम्हारा शत्रु है और निंदा करने वाला मित्र है, ऐसा जब तुम समझने लगोगे तभी तुम्हें जीवन में सफलता मिलेगी। कभी तुमने यह भी सोचा है कि तुम्हारा प्रशंसक तुम्हारी पीठ पीछे तुम्हारे बारे में क्या कहता है। सम्भव है वह तुम्हारी प्रशंसा करके अपना मतलब सिद्ध करना चाहता हो। प्रायः मनुष्य अपनी प्रशंसा सुनकर अधिक प्रसन्न हो जाता है और मानसिक संतुलन खो बैठता है। प्रशंसा भी एक प्रकार का नशा ही है। प्रशंसा-मद में मस्त व्यक्ति को ठगना सरल होता है।

जब तुम्हें प्रशंसा और सम्मान, अभिनन्दन पत्र और स्मारक ग्रन्थ विष प्रतीत होंगे तभी तुम सच्चे नेता, सच्चे त्यागी और ब्राह्मण बन सकोगे।

प्रशंसा में फूल जाना भी मनुष्य का एक मर्मस्थल है और है बड़ी कमजोरी। तुम्हारी इस कमजोरी से कुछ लोग अनुचित लाभ उठाते हैं तुम ऐसा क्यों होने देते हो।

प्रशंसा करने वाले बहुत चतुर होते हैं। प्रशंसा करने की पद्धति भी परिवर्तित होती रहती है। यह आवश्यक नहीं कि तुम्हें रईस, राय साहब और बड़ा जमींदार कहना ही प्रशंसा हो। हो सकता है तुम इसे अपनी निंदा समझो। तुम्हें बड़ा सेवक, त्यागी, गरीब निवाज और देश जाति के लिए सर्वस्व अर्पण करने वाला कहकर तुम्हारी प्रशंसा होती है यह तो प्रशंसक का गुण है कि वह यथा योग्य प्रशंसा करता है, जिससे तुम्हें अधिक हर्ष के कारण मानसिक सन्तुलन से हाथ धोना पड़े। यह तुम्हारे लिए घाटे का सौदा है ऐसा सदा समझो।

तुम डण्डे की मार सह सकते हो, तुम चाँदी और सोने की मार से तथा जमीन, सम्पत्ति और स्त्री की मार से भी नहीं जीते जा सकते यह तुम्हारी विशेषता है। परन्तु हो सकता है कि तुम फूलों की माला की मार से जीत लिए जाओ। किसी सभा का सभापति बनाकर अभिनन्दन-पत्र और मान-पत्र उपस्थित करके अथवा तुम्हारे सम्मान में समारोह करके तुम्हें खरीद लिया जाय तथा तुमसे अपना स्वार्थ पूरा करा लिया जाय। यदि ऐसा हो जाता है तो तुम्हारह यह कमजोरी है। तुम अपनी इस कमजोरी को दूर करो।

जो तुम्हें आज संसार का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक, नेता, वक्ता, लेखक अथवा दानी बता रहा है और तुम भी उतने समय अपने आपको भूतल से चार अंगुल ऊपर देख रहे हो वही कल तुम्हारे लिए सबसे अधिक घातक प्रहार कर सकता है। ऐसा व्यक्ति

तुम्हारा मित्र नहीं, शत्रु भी नहीं, वह तो मतलब का मित्र और शत्रु है। तुमने यदि कोई अच्छा कार्य किया है तो क्या उसका श्रेय केवल तुम्हें ही मिलना चाहिए? क्या तुमने प्रशंसा के लिए वह कार्य किया था? यदि हाँ तो तुम्हारा कार्य निम्न श्रेणी का है। सम्भव है कि तुम्हारे कार्य की सफलता में अनेक ऐसे व्यक्तियों का महत्त्वपूर्ण भाग हो जिन्हें कोई नहीं जानता और यह भी सम्भव है तुमने ऐसा प्रयत्न किया हो कि सफलता का श्रेय तुम्हारे सिवाय और किसी को न मिलने पाये, यदि यही बात है तो तुम प्रशंसा के योग्य नहीं।

तुम प्रशंसा प्राप्त करने के लिए दिन-रात एक कर रहे हो। अपने प्रशंसकों की संख्या बढ़ाने में तुम बुरी तरह व्यस्त हो। इसलिए दूसरों के नाम से अपनी प्रशंसा में स्वयं ही लिखकर लेख, विज्ञप्तियाँ और समाचार प्रकाशित कराते हो। क्या तुम इस प्रकार कागज की नाव से सागर को तैर जाना चाहते हो। सम्भव है ऐसा भी हो जाय, परन्तु उस पार भी तुम्हारा क्या असर होगा। कभी इस पर भी ठण्डे दिल से सोचो।

तुम्हारा पड़ोसी यह सोचता है कि कब इससे पिण्ड छूटे और बाहर की दुनिया तुम्हारी प्रशंसा के पुल बाँध रही है यह उल्टी गङ्गा गङ्गोत्री तक वापस न आ सकेगी।

तुम्हारे दुर्गुण, उथलेपन और तुमसे हानि की आशङ्का के कारण भी हो सकता है, तुम्हारी प्रशंसा होती हो। क्या इस सम्पत्ति के भरोसे जीवन के रेगिस्तान में से शान्तिपूर्वक गुजरने का तुम स्वप्न ले रहे हो।

तुम विद्वान् हो माना। क्या तुम्हारी विद्या के परिश्रम का फल है? अनन्त काल से विद्या के प्रसार में, शास्त्रों के निर्माण में और नवीन आविष्कारों के सृजन में जिन अनेक अज्ञात ऋषियों ने तत्त्व-वेत्ताओं और दार्शनिकों ने आत्म-बलिदान किया है, तुम्हारी विद्या बुद्धि उस परिश्रम की सुदृढ़ भित्ति पर आधारित नहीं है क्या? क्या तुम दावा कर सकते हो कि तुम्हारी विद्या केवल तुम्हारे ही परिश्रम का फल है? यदि नहीं हो, तो विद्वान् होने की प्रशंसा के तुम अपने आपको अधिकारी कैसे समझते हो?

—कुमारी भारती

अहंकार के नाश की प्रेरणा

प्रभु से तादात्म्य स्थापित करने के लिए अपना आपा मिटाना पड़ता है—अहंकारका नाश करना पड़ता है। श्रीमद्भगवद्गीता अनासक्ति, धैर्य, उत्साह, सिद्धि और असिद्धि में निर्विकारता तथा भाव की सात्त्विकता के साथ-साथ अनहंभाव को भी मुक्ति का एक बड़ा साधन मानती है और अहङ्कारपूर्वक किये गये कर्म को राजस और बन्धनकारी कहती है। 'अहं' वास्तव में एक ऐसी बुराई है जो मनुष्य को न तो लौकिक जीवन में निश्चिन्त होकर बैठने देती है और न उसे प्रभु के सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार होने देती है। 'अहं' वह अन्धापन है जिससे न तो हम अपने-आपको देख सकते हैं और न अपने कर्त्ता को ही पहचान सकते हैं। 'अहं' हमारे सौजन्य और सद्भाव का नाश करके हमें पूरी तरह से स्वार्थी और असामाजिक बना देता है।

—सुविचार

निजानुभूतियाँ—

हमारे श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी महाराज

* श्री शिवराम सांगर

तुझको को खुदा कहूँ, या खुदा को खुदा कहूँ ।
दोनों की शक्ल एक है, किसको खुदा कहूँ ? !!

यूँ तो हर एक व्यक्ति को अपने-अपने गुरु महाराज बहुत पूजनीय और प्यारे होते हैं और उनके सच्चे भक्त हमेशा यही चाहा करते हैं कि हर वक्त गुरु महाराजजी का ही प्रसंग चलता रहे और सत्संग में भी उनकी ही प्रशंसा की जाय । ऐसे ही हम लोग भी अपने परमपूज्य गुरुदेवजी महाराज योगीराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के बारे में चिन्तन करते रहते हैं और हर दम उनसे सच्चे दिल से प्रार्थना करते रहते हैं कि वह हर वक्त हमें अपनी याद दिलाते रहें और हमारे अंग संग रहें । अंग-संग रहने की हजारों मिसालें मौजूद हैं । हम लोग तो अक्सर महसूस करते हैं कि वह हमारे साथ हैं । हमारे हजारों गुरु भाई और बहनों के साथ ऐसी घटनायें घटती रहती ही हैं । जिनका जितना प्यार महाराजजी के चरण-कमलों में रहता है उतना ही महाराजजी उसके नजदीक हैं । महाराजजी का नाम अपने बच्चों की जुबान पर तो रहता ही है इसके अलावा बड़े-बड़े लोगों की जुबान पर भी अक्सर रहता है । जिनकी चन्द एक मिसालें नीचे पेश करता हूँ ।

कई साल पहले का जिक्र है कि मैं दफ्तर के काम की वजह से २ डाउन कालका मेल से फर्स्ट क्लास में इलाहाबाद जा रहा था वह डिब्बा छः आदमियों के बैठने के लिए था । उसमें तीन सज्जन बैठे थे । इन तीन सज्जन में से एक सज्जन किसी कॉलिज के प्रिन्सपिल थे जो कि शायद इलाहाबाद ही जा रहे थे । गाड़ी चलने से पहले एक बुजुर्ग सज्जन प्रिन्सपिल को देखकर उसी फर्स्ट क्लास में आ गये जिनको वह पहले से ही जानते थे । आपस में खूब अच्छी तरह से मिले । बाद में पता चला कि यह बुजुर्ग जो कानपुर से आये थे वह यू० पी० के स्वर्गीय मुख्यमन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द के छोटे भाई श्री परिपूर्णानन्दजी वर्मा हैं । वह बहुत पढ़े-लिखे तो थे ही । वह आपस में हिन्दू धर्म के बारे में अपने अपने ख्याल जाहिर करने लगे । हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए उन्होंने योग की चर्चा शुरू कर दी और भारतवर्ष के बड़े-बड़े योगियों का जिक्र करने लगे । इस जिक्र में श्री परिपूर्णानन्दजी ने कहा कि यूँ तो बड़े-बड़े योगी भारतवर्ष में मौजूद हैं और हिन्दू धर्म की रक्षा कर रहे हैं मगर उनमें बहुत से हिन्दू धर्म की रक्षा करने के बजाय रुपया इकट्ठा करने में लगे हुए हैं और विदेशों से भी बहुत-सा धन इकट्ठा किया जा रहा है,

मगरमैं एक ऐसे योगिराजको जानताहूं जिनका ध्येय धनार्जन नहीं किंतु कुछ और है। उनका ध्येय जनता का उद्धार करना है। वह पैसे के वास्ते में कभी नहीं आते और बड़े-बड़े योग के मसले मिनटों में हल कर देते हैं वह एक सिपाहीकी तरह अपने योग प्रचारमें लगे हुए हैं। मेरे ख्याल से भारतवर्षके योगियों में उनका सबसे ऊँचा नम्बर है। वह एक ऐसे छुपे हुए योगी हैं जोकि अपने आपको जाहिर ही नहीं करना चाहते हैं। कोई भी भारतवर्ष का योगी अभी उनकी श्रेष्ठता तक नहीं पहुँचा. उनका भाषण सुनते ही बनता है उनकी कथनी और करनी में कोई फर्क नहीं है। अगर दो चार और योगिराज भारतवर्षमें ऐसे हों तो देश का उद्धार हो सकता है। जो बातें श्री परिपूर्णानन्दजी ने कही उन प्रिंसपल ने उन सब बातों का समर्थन किया और अपने विचार महाराजजी के बारे में श्रद्धा-पूर्वक कहे। कानपुर से इलाहाबाद तक यही जिक्र चलता रहा और मैं बैठा हुआ चुपचाप यह सब सुनता रहा।

× × ×

धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र में एक स्कूल है जिसका नाम गीता स्कूल है यहाँ के सब स्कूलों में यह अच्छा स्कूल है पढ़ाई बहुत अच्छी होती है और अनुशासन तो बहुत ही अच्छा है। सब लोग अपने बच्चों को उसी स्कूल में दाखिल कराना चाहते हैं यहाँ एक योगी प्रधानाचार्य होते हैं वह अनुशासन की एक मिसाल होते हैं यह स्कूल राष्ट्रीय स्वयं संघ के नियमों पर चल रहा है। यहाँ पर कुछ अरसा पहले श्री गुरदयाल कौशल प्रधानाचार्य थे जो कि बहुत ही सज्जन पुरुष हैं। एक दिन एक प्रसंग चल रहा था जिसमें बहुत से लोग शामिल थे। प्रसङ्ग यह था कि भारतवर्ष की हालात बहुत खराब है कोई दीन-धर्म नहीं रहा और लोग अपनी सभ्यता से गिरते ही चले जा रहे हैं और भगवान का नाम तो कोई विरला ही लेता है। इस वक्त भारतवर्ष की दुर्दशा को यदि कोई काया-पलट कर सकता है तो वह कोई योगिराज ही कर सकता है। श्री गुरदयाल कौशल ने कहा कि मेरी नजर में इस वक्त योगिराज चन्द्रमोहनजी महाराज से बड़ा कोई योगी भारतवर्ष में नहीं है। अगर वह चाहें तो संकल्पमात्र से ही सब बिगड़े हालत सुधार सकते हैं। जब महाराजजी का नाम आया तो मेरे एक मित्र बल्देवराज शर्मा वहाँ मौजूद थे जो कि महाराजजी के दर्शन मेरे साथ कई बार कर चुके हैं सवाई आश्रम भी गये हैं उन्होंने कहा कि मैंने तो महाराजजी के दर्शन कई बार किये हैं तो श्री गुरदयाल कौशलजी बड़े हैरान हुये और उनसे कहने लगे कि भैया अब जब भी तुम महाराजजी के दर्शन करने जाओ तो मुझे भी अपने साथ लेते चलना। यह सुनकर वहां जितने और भी सज्जन बैठे हुये थे वह भी बहुत प्रभावित हुए।

× × ×

बेखुदी बे वजह नहीं गालिब
कुछ तो है जिसकी पर्दादारी है।

× × ×

मेरे ख्याल में यह सन् १९६२ का जिक्र है कि मैं एक बार अपने पूरे स्टाफ को लेकर रेलवे स्टेशन अलीगढ़ पर रेलवे गाड़ियों की बगैर टिकट अभियान पर चैकिंग करा रहा था और २ डाउन कालका मेल आने का वक्त हो रहा था। प्लेट फार्म पर एक बुजुर्ग महात्मा जिनके चेहरे से जलाल टपक रहा था, खड़े थे उन्होंने मुझसे कुछ समाचार जानना चाहा कि बेटा २ डाउन कालका मेल टूंडला कब पहुंचती है फिर वहाँ से आगरे के लिये कौन-सा कनेक्शन मिलता है और आया इस २ डाउन गाड़ी में—ए. सी. सी. में टूंडला जा सकते हैं या नहीं। मैंने उनकी सब बातों का नम्रता से सही सही जवाब दे दिया। पता नहीं क्यों वह मेरे नम्रता भरे जवाब से इतने खुश क्यों हो गये। मुझे उन्होंने पैसे दिये कि जाओ टूण्डला का I ए. सी. सी. का टिकट ले आओ और उनके पास कुछ सामान था वह मैंने उठा लिया और उनको I ए. सी. सी. में आराम से बैठा दिया। कहने लगे कि बेटा यदि तुम टूण्डला तक हमारे साथ चलो तो हमें गाड़ी बदलने में आसानी रहेगी। मैंने टिकट चैकिंग का कार्य अपने साथी श्री के० के० तिवारी को संभला दिया और खुद टूण्डला के लिये बैठ गया। उन महात्माजी की मर्जी थी कि मैं भी उनके साथ I ए. सी. सी. में बैठूं, मैं उनके पास बैठ गया और गाड़ी चल दी। उन दिनों अष्टग्रह योग का चक्कर चल रहा था और सभी लोग बहुत घबराये हुए थे और जगह-जगह अष्टग्रह योग का ही जिक्र होता रहता था। बातों ही बातों में मैंने उनसे प्रार्थना की कि आप सिद्ध महात्मा हैं आप अष्टग्रह योग के ऊपर कुछ रोशनी डालिये। उन्होंने समझा कि मैं भी इस अष्टग्रह योग से बहुत घबराया हुआ हूँ तब उन्होंने कहा कि बेटे तुमने कोई गुरु धारण किये हैं या नहीं। मैंने कहा कि मेरे परम पूज्य गुरुजी योग योगेश्वर योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज हैं तब वह महात्माजी कुछ देर के लिए आँखें बन्द करके बैठ गये। कोई दस मिनट के बाद जब जलेसर स्टेशन पास हो रहा था, उन्होंने अपनी आँखें खोली और कहने लगे कि ध्यान में मैंने आपके गुरु महाराजजी के दर्शन कर लिये हैं। ऐसे सिद्ध योगी मेरे ध्यान में पहले कभी नहीं आये। जिस कमरे में महाराजजी बैठे हुए थे वहाँ पर एक जटाधारी महापुरुष की फोटो लगी हुई थी उनका तेज सूर्य के समान था और उसी तेज को लिये हुए आपके गुरु महाराजजी बैठे हैं। बेटा जिसके ऊपर ऐसे सिद्ध योगिराज का हाथ हो उसका अष्टग्रही योग तो क्या प्रलय भी कुछ नहीं बिगाड़ सकती। तुम्हें चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं है तुम बहुत भाग्यशाली हो कि ऐसे सिद्ध पुरुष आपको गुरु के रूप में मिल गये हैं। तुम कुछ करो या न करो तुम्हारा तो बेड़ा पार है क्योंकि उनके दर्शन मात्र से ही पाप भाग जाते हैं जब मितावली स्टेशन निकल रहा था तब मैंने गाड़ी में से उन्हें दूर से ही आश्रम के दर्शन कराये थे। उन्होंने भी गौर से देखकर कहा कि मैंने भी ध्यान में यही जगह देखी है। तब वह कहने लगे कि आगरा को गाड़ी कब जायेगी। मैंने कहा कि अगर तूफान गाड़ी १२ मिनट लेट हो जावे तो वह आपको मिल जावेगी नहीं तो दो तीन

घण्टे बैठना पड़ेगा। वह कहने लगे कि पन्द्रह मिनट लेट होने पर तूफान मिल जावेगा मैंने कहा हाँ महाराज जी। टूण्डला उतरने पर पता किया तो पता चला कि तूफान पन्द्रह मिनट लेट है। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ मगर महात्मा जी मुस्करा रहे थे। मेरे ख्याल में सब बुजुर्गों की समझ में आगया होगा कि हमारे महाराजजी जैसा कोई सिद्ध योगिराज भारतवर्ष में नहीं है।

× × ×

'बादे[1] सबा' उनसे यह कहना सलाम के बाद
खुदा का नाम आता है तुम्हारे नाम के बाद

अबतक जो मैंने ऊपर तीन मिसालें दी हैं यह तो केवल भूमिका ही है जो असली घटना लिखने जा रहा हूँ वह बहुत ही विलक्षण है। इस घटना का कुछ हिस्सा बहुत समय पहले सिद्धयोग में निकल चुका है परन्तु अब मैं विस्तार से लिख रहा हूँ जो हमारे गुरु भाई पन्द्रह बीस साल से महाराजजी की शरण में आये हैं उनके लिए विस्तारपूर्वक यह घटना निकाली जा रही है। मेरे ख्याल से अष्टग्रेह का चक्कर सन् १९६२में चलाथा। ज्योतिषियों के हिसाब से यह आठ ग्रह अक्सर इकट्ठे नहीं होते हैं लेकिन जब इकट्ठे होते हैं तब प्रलय के हालात हो जाते हैं। शहरों गाँवों और छोटे-मोटे देशों का नाम-निशान मिट जाता है, समुद्र में टापू नेस्तनाबूद हो जाते हैं। इन्सान की जिन्दगी खत्म-सी हो जाती है। रोजाना ज्योतिषी अखबारों में अपने-अपने भयानक विचार निकाला करते थे। और भारतवर्ष में हाहाकार मची हुई थी। सब गाँव और शहरों में कुछ न कुछ दान, पुण्य, यज्ञ वगैरा हो रहे थे। कई जगह तो बहुत ही बड़े पैमाने पर यज्ञ कराये जा रहे थे ताकि अष्टग्रही योग के बुरे असर को कम किया जावे। मेरे एक साथी जिनका नाम धर्मवीरसिंह है वह उस समय टूण्डला में रेलवे में गार्ड थे उनके पिता का नाम लाला बल्देवसहाय था जो कि कस्बा मीरापुर जिला मुजफ्फरनगर में रहते थे। लाला बल्देवसहाय अच्छे खाते-पीते लोगों में से थे और गरीबों की मदद करना और दान-पुण्य करना उनकी आदत थी उन्होंने भी अपने गाँव में यज्ञ कराने का इन्तजाम किया। बाहरसे आये अच्छे-अच्छे पण्डितों को बुलाया और कुछ अच्छे-अच्छे महात्माओं को भी बुलाया और काफी पैसा खर्च करके यज्ञ शुरू करवा दिया। काम में हाथ बटाने के लिए उन्होंने धर्मवीरसिंह को भी अपने गाँव मीरापुर बुला लिया और उनकी ड्यूटी सिर्फ यह लगाई कि वह सिर्फ साधुओं की सेवा करें और उन्हें किसी किस्म की परेशानी न पैदा होने दें। इस यज्ञ की जो देख-रेख कर रहे थे वह एक वृद्ध महात्मा थे जो कि हर वक्त प्रभु भक्ति में लीन रहते थे। उनकी आँखों से नूर बरसता था। रात को जब वह सोने के लिए जाते थे तो धर्मवीरसिंह उनके पाँव दबाया करते थे।

एक दिन धर्मवीरसिंह ने उनसे पूछा कि महाराज टूण्डला के पास एक जगह है जिसे सर्वाई आश्रम कहते हैं वहाँ पर एक महात्मा रहते हैं लोग बहुत दूर से उनके पास भाग-

---

१ सुबह की हवा।

भाग कर आते हैं क्या वजह है आप बताने की कृपा करें। उस महात्मा ने धर्मवीर से कहा कि बेटे तुम योगिराज चन्द्रमोहनजी के बारे में तो कुछ नहीं पूछना चाहते हो ? उसने कहा कि हाँ महाराजजी मैं उन्हीं के बारे में आपसे विस्तार से पूछना चाहता हूं। वह महात्माजी कहने लगे कि बेटे बात यह है कि जो तूने मुझसे पूछा है वह मैं अपने अनुभव की बिना पर तुम्हें बता सकता हूँ अगर सवाई को केन्द्र मान लिया जाय और उसके चारों ओर एक-एक हजार मील का गोल दायरा खींच दिया जावे तो उसके बराबर मुझे कोई सिद्ध पुरुष नजर नहीं आता।

यह सब कहने की बातें हैं यहाँ तक है, वहाँ तक है।
वहीं तक उसका जलवा है नजर जिसकी जहाँ तक है ॥

मैं तो सिर्फ एक हजार मील तक ही अपने अनुभव की बिना पर ही देख सकता हूँ और अगर किसी का अनुभव और ज्यादा हो तो वह ज्यादा दूर तक देख सकता है। मैं तो सिर्फ अपने ही अनुभव के सहारे पर बता रहा हूँ और अगर मैं यह कह दूं कि वह शिव अवतार हैं तो इसमें भी कोई संशय नहीं है। मैंने भी अभी तक श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के दर्शन नहीं किये हैं और चाहता भी हूँ कि एक बार मैं भी दर्शन करके कृतार्थ हो जाऊँ वह लोग बहुत भाग्यशाली हैं जो उनके चरण-कमलों तक पहुँच गये हैं। यह सब बातें मैंने तुमको भीतरी ज्ञान से बताई हैं।

मैंने सवाई आश्रम से चारों दिशाओं को १६०० कि० मी० के हिसाब से दूरी निकाली है किलोमीटर के हिसाब से इसलिए निकाली है क्योंकि आजकल मील वगैरा खत्म हो गये हैं और हजार मील के १६०० किलोमीटर बनते हैं दूरी इस प्रकार है :—

सवाई से कलकत्ता— १४५० कि०मी०
उसके बाद समुद्र
सवाई से बम्बई— १५५० कि०मी०
उसके बाद समुद्र
सवाई से अमृतसर होते हुए
लाहौर— ७०० कि०मी०
सवाई से मुरादाबाद, हरिद्वार,
ऋषीकेश होते हुए बद्रीनाथ—७२० कि०मी०
तकरीबन

अब आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि कलकत्ता और बम्बई से आगे तो समुद्र है यह भी १६०० कि० मी० से कम ही रहा। लाहौर भी ७०० कि० मी० है उसके आगे ९०० कि० मी० और चाहिये यह पेशावर से आगे निकल जावेगा। बद्रीनाथ केवल ७२० कि० मी० है उसके कुछ दूर बाद चीन का इलाका शुरू हो जाता है ८८० कि०मी० फिर भी बचा। ऋषीकेश, सवाई से मुरादाबाद होकर करीब ४१५ कि०मी० है वहां से हिमालय शुरू हो जाता है। ११८५ कि०मी० में हिमालय का कितना हिस्सा आ जाता है इसका अन्दाजा आप लोग लगा सकते हैं, मेरे ख्याल में नेपाल धाम भी इसी रेख में आ जाता है इसका अन्दाजा भी आप लोग लगा सकते हैं ?

● ● ● ● आखिर में आकर यही सिद्ध हो जाता है कि जैसे भगवान शंकर का दूसरा कोई मुकाबला न था इसी तरह हमारे पूज्य महाराजजी का भी कोई मुकाबला नहीं है। वह अपने आपको कितना भी छिपायें मगर जिनका भीतर की दुनिया में प्रवेश है उनसे छिप नहीं सकते।

आँख वाला तेरे कौतुक का तमाशा देखे,
दीदये कोर[1] को क्या आवे नजर और क्या देखे !

---

1 दीदये कोर = अन्धी आँख।

प्रज्ञान—

अन्तर्ज्ञान *अथवा* दिव्य दृष्टि

● श्री लालमोहन शुक्ल

भारतीय महर्षियों का विचार

आधुनिक मनोविज्ञान ने बुद्धि और सहज ज्ञान के सम्बन्ध पर नया प्रकाश डाला है। सहज ज्ञान बुद्धि से कोई पृथक वस्तु है, इस प्रकार का विचार पूर्व और पश्चिम दोनों का ही तत्व विचार-धाराओं में बहुत पुराने समय से चला आया है। जो बात हम बुद्धि से नहीं जान सकते उसे सहज ज्ञान अथवा अन्तर्ज्ञान से जान सकते हैं। अंग्रेजी में बुद्धि को इन्टेली-जेन्स और सहज व अन्तर्ज्ञान को इन्ट्यूशन कहा गया है, अन्तर्ज्ञान को दिव्य दृष्टि भी कहा गया है। जब मनुष्य की बुद्धि किसी विषय में सोचते-सोचते थक जाती है और किसी भी निर्णय पर नहीं पहुंचती तो वह सहज ज्ञान व दिव्य-दृष्टि की शरण लेता है। इससे जो प्रकाश मिलता है वह किसी प्रकार के सन्देह को घुसने नहीं देता। अन्तर्ज्ञान में तर्क-वितर्कों के लिए स्थान नहीं होता। उसके लिए बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती, वह अपना प्रमाण अपने आप लेकर आता है। जब अर्जुन की बुद्धि कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय नहीं कर रही थी, उस समय श्रीकृष्णजी की कृपा से उसे दिव्य-दृष्टि प्राप्त हुई और वह एक ही निश्चय कर सका। सब प्रकार का उपदेश देने के पश्चात् श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन से यही कहा था कि सब प्राणियों के हृदय में ईश्वर का निवास स्थान है, वही सबको कठपुतलियों के समान घुमाया करता है, उसी की शरण में आने से तेरा कल्याण होगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां,
हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि,
यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ,
सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्ति,
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

—गीता १८/६१-६२

अन्तर्ज्ञान का व्यवहार में कार्य

कोई-कोई लोग इस अन्तर्ज्ञान को ईश्वर की आवाज कहते हैं। कोई इसे आत्मा की आवाज कहते हैं। यह निश्चित है कि वह मनुष्य में एक ऐसी शक्ति है जो बुद्धि के परे है और जब बुद्धि विचार करते-करते थक जाती है तो इसी अन्तर्ज्ञान के अनुसार काम करने से मनुष्य का कल्याण होता है।

ईसाई मत

किन्हीं-किन्हीं तत्व चिंतन करने वालों का कथन है कि इस प्रकार की शक्ति हमें सदा मार्ग बताती है। यह हमारे प्रत्येक निर्णयों में काम करती है, चाहे वे निर्णय व्यवहार जगत् के हों अथवा विचार जगत् के। ईसाई धर्म के सन्तों ने इसे बड़े महत्व

का स्थान अपने धार्मिक विचारों में दिया है। बिशहोप बटलर के अनुसार प्रत्येक निर्णय इसी दैवी शक्ति के अनुसार होता है। बुद्धि का सिर्फ इतना काम है कि वह किसी भी समस्या के अनेक पहलुओं को स्पष्ट करे। बुद्धि सिर्फ उतना ही काम कर सकती है, जितना कि किसी मुकद्दमे को तय करने में वकील लोग करते हैं। वह किसी भी बात के दोनों पक्षों को आत्मा के समक्ष ला देती है पर निर्णय का काम बुद्धि से नहीं होता। वह अन्तर्ज्ञान से ही होता है। किसी भी समस्या के सामने आने पर हमारा क्या कर्त्तव्य है और क्या नहीं, इस विषय में बुद्धि अनेक तर्क-वितर्क कर सकती है, उसमें निर्णय करने की शक्ति नहीं। इसी तरह तत्व के वास्तविक रूप को समझने की भी बुद्धि में शक्ति नहीं जो व्यक्ति बुद्धि से तत्व के वास्तविक रूप को समझना चाहता है वह व्यर्थ प्रयास में लगा हुआ है।

बुद्धिवाद की अल्पकालीन प्रबलता

गत तीन सौ वर्षों से बुद्धि की तत्व विचार में उपयोगिता और सामर्थ्य के सिद्धान्त का, अनेक विद्वानों ने प्रतिपादन किया। इन विद्वानों के अनुसार विचार से ही तत्व-दर्शन किया जा सकता है। विचार के सामर्थ्य में विश्वास न करना अन्ध-विश्वास की शरण लेना है। इस प्रकार की विचार-धारा आज भी बड़ी प्रबलता के साथ चल रही है। भौतिक विज्ञान का जो कि विचार से ही उत्पन्न हुआ है, सामर्थ्य देखकर सभी लोग विचार की महत्ता में विश्वास करने लगे। हम देखते हैं कि विचार के द्वारा मनुष्य ऐसी शक्ति को प्राप्त कर सका जो कि दूसरी तरह से उसे उपलब्ध न थी। अतएव कितने ही लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि विचार से परे कोई तत्व ही नहीं। वास्तविक सत्य हमें विचार से ही प्राप्त हो सकता है। इस विचार का आधार हमारा संसार का अनुभव है। यह अनुभव हमें इन्द्रियों के ज्ञान के द्वारा पहले पहल प्राप्त होता है।

इमेनुअल कांट का, बुद्धिवाद का खंडन

इस विचार-प्रणाली का खोखलापन इमेनुअल कांट ने बताया। उसके अनुसार बुद्धि बाह्य पदार्थों के स्वरूप को जान सकती है। ये सभी पदार्थ नश्वर हैं, किन्तु बुद्धि तत्व तक नहीं पहुंच सकती, जो कि स्थायी है। बुद्धि देशकाल से परिमित पदार्थों पर विचार कर सकती है, तत्व वस्तु देशकाल के परे है। अतएव उसका स्वरूप निरूपण करना बुद्धि की शक्ति के परे है। अतएव आत्मा व पदार्थों के सच्चे स्वरूप का जानना बुद्धि द्वारा संभव नहीं। आत्मा अथवा जड़ पदार्थों के परे कोई चैतन्य सत्ता है अथवा नहीं यह बुद्धि कदापि निश्चित नहीं कर सकती। यह मनुष्य मात्र के लिए विश्वास के आधार पर ही मानना होगा।

शोपन हावर का अन्तर्ज्ञान का सिद्धांत

शोपन हावर पहला गम्भीर तत्वदर्शी है, जिसने यूरुप में यह बताया कि तत्व के जानने के लिए अपने आपको जानना चाहिए। विषय और विषयी के भेद बुद्धि जनित हैं, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण संसार के बाह्य पदार्थ के ज्ञान के रूप हैं। प्रमाता प्रमेय का जहां तक भेद है अर्थात् जहां तक बुद्धि काम करती है, वहाँ तक प्रपंच है, तत्व वस्तु इस क्षेत्र के परे है। तत्व में प्रमाता और प्रमेय

का भेद नहीं। अतएव यदि हम अपने आपको जान लें तो समस्त संसार के रहस्य को जान लेंगे। पर यह अपने आपको जानना विषय और विषयी के रूप से नहीं होगा। अपने आपको ज्ञान आत्मा से ऐक्य करने से ही होगा। इसका अर्थ यही है कि जब हमारा बाह्य पदार्थों में अर्थात् नाम रूप के मिथ्या संसार में भटकता हुआ मन रुकेगा तो आत्मा का ज्ञान अपने आप हो जावेगा। तत्व-दर्शन के लिए विषयों के ज्ञान के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं, इस ज्ञान से मन को निवृत्त करने की आवश्यकता है। जितना ही हमारा मन विषयों से असंग होता है, उतना ही यह तत्व की ओर जाता है, तत्व का ज्ञान इस तरह अपने आप ही होता है। यह बाहरी ज्ञान के बढ़ाने से नहीं होता। बौद्धिक ज्ञान विषय ज्ञान से बढ़ता है, तत्व ज्ञान नहीं बढ़ता। इस प्रकार के ज्ञान को ही अन्तर्दर्शन कहा जाता है। अन्तर्दर्शन की अवस्था में प्रमाता और प्रमेय एक हो जाते हैं। जहाँ बुद्धि द्वारा नाम रूपात्मक जगत् का ही ज्ञान होता है वहाँ अन्तर्दर्शन से तत्व-बोध होता है जो तत्व अन्तर्ज्ञान से जाना जाता है, वह प्रकारता रहित है, उसका किसी प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता। जो वस्तु वर्णित हो सकती है वह नश्वर होती है; विषय-ज्ञान इसी प्रकार का होता है। अतएव इस अन्तर्ज्ञान का स्वरूप दूसरे व्यक्ति को समझाना सम्भव ही नहीं।

बर्गसन का विचार

वर्तमान काल में अन्तर्ज्ञान के सिद्धान्त का प्रतिपादन फ्रांस के प्रसिद्ध तत्व-वेत्ता बर्गसन ने किया है। उसने अपने सिद्धांत को सिद्धान्तों के समक्ष रखने में बड़ी प्रतिभा दिखाई है। उसका कथन है कि बुद्धि हमें किसी भी वस्तु के बाह्य स्वरूप को ही दिखला सकती है, उसकी आत्मा का दर्शन नहीं करा सकती। बाहर से दृश्य पदार्थ जैसा दिखाई देता है वह वास्तव में वैसा नहीं है। वास्तव में प्रत्येक पदार्थ चंचल और सजीव है पर बुद्धि उसे स्थिर और निर्जीव दर्शाती है। संसार में जड़ कोई पदार्थ नहीं। सभी पदार्थ चैतन्य हैं (चैतन्य के अर्थ क्रियमाण माने गये हैं) जड़ता बुद्धि का कार्य है। बुद्धि प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप को उतना ही जानती है जितना कि व्यवहार जगत् के लिए आवश्यक है। भौतिक विज्ञान भी हमें संसारी कामों में सफल बनाने का साधन है। अतएव विज्ञान की दृष्टि तत्व दृष्टि से भिन्न है। विज्ञान संसार के सभी पदार्थों को जड़ रूप देखता है। यहाँ तक कि जीव तत्व को भी जड़ पदार्थ की दृष्टि से ही देखता है। यदि ऐसा न किया जाय तो विज्ञान कोई नियम ही स्थिर न करने पावे। विज्ञान संसार की प्रत्येक घटना अर्थात् संसार की सभी वस्तुओं के व्यवहार के विषय में अकाट्य नियम स्थिर करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार के नियम तभी स्थिर किये जा सकते हैं जब कि विज्ञान प्रत्येक पदार्थ को किसी दृष्टि से एकसा ही देखे। उनके व्यवहार में यदि स्वतन्त्रता की कल्पना विज्ञान करता है तो किसी प्रकार के नियम स्थिर न हो सकेंगे। अतएव जहाँ इस प्रकार की स्वतन्त्रता देखी जाती है, उसे विज्ञान समझने और समझाने की कोई चेष्टा नहीं करता।

विज्ञान बुद्धिवाद की सन्तान है। इसका

ग्राह्य जड़ पदार्थ है। बुद्धि जड़ पदार्थके विषय में ही जान सकती है अर्थात् वह वस्तु के स्वरूप को न जानकर उसकी ऊपर की बातों को जानती है। पर जिस तरह घर के बाहरी बातों के वर्णन से घर की वास्तविकता नहीं जानी जा सकती, इसी तरह बौद्धिक ज्ञान से सत्य का दर्शन नहीं होता। सत्य दर्शन के लिए बुद्धि नहीं अंतर्ज्ञान की आवश्यकता है। अन्तर्ज्ञान विषय विषयी का भेद मिटा देता है, वह पदार्थों से अपने आपको एक करके जानने की चेष्टा है। अन्तर्ज्ञान की शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में होती है। यह बुद्धिके समान पर उससे भिन्न एक विशेष प्रकार की मानसिक शक्ति है। इसके द्वारा जो सत्य जाना जाता है वह दूसरी तरह नहीं जाना जा सकता।

बर्गसन महाशय की विचारधारा की बड़ी समालोचना हुई है। बर्गसन महाशय ने कहीं कहीं इस अन्तर्ज्ञान की पशुओं के तर्क-वितर्क हीन ज्ञान से तुलना की है। अतएव कई लोगों ने यही कहा कि यदि अन्तर्ज्ञान कोई ऐसी शक्ति है जो बुद्धि से पृथक है और जो बिना युक्तियों के ही किसी निष्कर्ष पर पहुंच जाती है तो यह शक्ति मनुष्य की कोई दैविक शक्ति नहीं वरन् पशुओं जैसी ही शक्ति है। अन्तर्ज्ञान इस प्रकार बुद्धि ज्ञान से नीचा ठहराया जाता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि

आधुनिक मनोविज्ञान ने भी अन्तर्ज्ञान के ऊपर पर्याप्त विचार किया है। मनोविज्ञान के अधिक पंडितों के विचार के अनुसार अंतर्ज्ञान बुद्धिज्ञान का ही एक प्रकार है। अंतर्ज्ञान अस्पष्ट विचार ही है। विचार करते समय हम अपने समस्त अनुभवों को चेतनाके समक्ष लाते हैं और किसी विषय के प्रत्यक्ष पहलू पर दृष्टि डालते हैं। कोई निर्णय करने से पूर्व उसके हानि, लाभ, औचित्य और अनौचित्य के समर्थन में युक्तियां ढूंढ़ते हैं। ये युक्तियां हमें स्पष्टतः ज्ञात रहती हैं। वह चेतन मन में आती हैं। अन्तर्ज्ञान के समय ऐसा नहीं होता। अन्तर्ज्ञान से जिस निर्णय पर हम आते हैं वह हमारे पुराने अनुभव पर अवश्य ही आधारित रहता है, किन्तु हम इसे स्पष्टतः नहीं जानते। जिस व्यक्ति का जैसा संसारी अनुभव रहता है उसका अन्तर्ज्ञान भी वैसा ही होता है। मेकडूगल और ड्राइवर महाशय इसी सिद्धांत के समर्थक हैं। दोनों ही के अनुसार अन्तर्ज्ञान का स्थान विचार से नीचा है। सबसे ऊंचा ज्ञान-युक्ति सम्मत ज्ञान ही है। अन्तर्ज्ञान में भी युक्तियाँ रहती हैं, किन्तु वे व्यक्ति को स्पष्ट ज्ञात नहीं रहतीं। बहुत-सी युक्तियाँ उसके अर्द्ध चेतन मन में रहती हैं। अतएव पूर्ण विचार से निर्णय करना अन्तर्ज्ञान से निर्णय करने से ऊंचा है। जो निर्णय शिक्षित प्रौढ़ लोग विचार के द्वारा करते हैं, वही निर्णय अशिक्षित अथवा बालकगण अन्तर्ज्ञान से करते हैं। शिक्षा का उद्देश्य विचार की वृद्धि है। किसी विषय में भी जिस व्यक्ति को अस्पष्ट धारणा व विचार हो, उसे स्पष्टतः जान लेना चाहिए। इसी प्रकार ज्ञान की वृद्धि होती है। हम जब कभी अन्तर्ज्ञान के अनुभव का विश्लेषण करते हैं तो देखते हैं कि उसका आधार अतीत काल का अनुभव है। विचार का आधार भी यही अतीत काल का अनुभव है। अतः अन्तर्ज्ञान और विचार में कोई मौलिक भेद नहीं। एक अस्पष्ट ज्ञान है और दूसरा स्पष्ट ज्ञान है। ●

मनुष्य जन्म का महत्व

—श्री विष्णुप्रसाद व्यास

प्रभु ने तुम्हें मनुष्य देह रूपी बहुमूल्य घर प्रदान किया है और उसको अनमोल फर्नीचर से सजाकर दिया है। प्रभु की दी हुई इस बहुमूल्य सौगात की पूरी-पूरी कद्र कीमत जानोगे तो उज्ज्वल मुख होकर जाओगे और दोनों लोकों में तुम्हारा नाम होगा।

संसार में प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य लाभ चाहता है हानि को कोई पसन्द नहीं करता, परन्तु सच्चाई यह है कि लाखों करोड़ों में से किसी एक व्यक्ति को सत्पुरुषों की संगति द्वारा यह परख होती है कि वास्तव में लाभ-हानि क्या है वरना आम संसारी वास्तविकता की परख न होने के कारण दिन-रात घाटे वाले काम की ओर दौड़ रहे हैं इसलिए सत्पुरुष कहते हैं कि—

"अरे नादान ! नफे के काम में तू ढीलमढाल (आनाकानी) करता है और घोर नुकसान के काम को दौड़-दौड़ करता है सस्ती से सस्ती वस्तु (जिसमें बे-अन्दाज नफा है) को तो खरीद नहीं करता और पापों की गठरी बाँधने में लगा हुआ है। आम इन्सान की यह हालत है कि रुपये पैसे के नफे-नुकसान को ही लाभ-हानि समझकर दिन-रात नामा एकत्र करने के लिए दौड़-धूप कर रहा है और पारमार्थिक लाभ-हानि की सूझ-बूझ नहीं रखता। सन्त सत्पुरुष जो वास्तव में जीव के सच्चे हितैषी, व सच्चे मित्र हैं जीव को आत्मा के नफा नुकसान की परख कराकर असली मुनाफे वाले काम की ओर ध्यान दिलाते हैं ताकि उनके वचनों व अनुभव का सहारा लेकर जीव नुकसान से बच जावे और इस मनुष्य रूपी घर की सही कदर व कीमत पाकर सच्ची दरगाह में जीव शोभा पा सके।

आम लोग दुनियावी नफे को ही नफा समझकर खुश होते रहते हैं परन्तु जब सत्पुरुषों की कृपा दृष्टि होती है तब वास्तविक नफे की समझ आती है यह बात नीचे लिखे प्रसंग से सिद्ध हो जाती है :—

बम्बई में एक बिल्डर्स (मकान को बनाकर बेचने वाला) था जिसने अपने कारोबार के सिलसिले में सैकड़ों फ्लैट बनाकर बेचे थे उसका धन्धा ही यही था। संयोग से एक बार उसके घर में एक महात्मा पुरुष का आगमन हुआ तथा महात्माजी के सामने ही कई दलालों के द्वारा कई मकानों के सौदे कर दिये गये। जब वह दलाल व ग्राहक लोग विदा होकर चले गये तब वह महात्माजी से बोला कि महाराज ! क्या करूँ ? मेरा यह धन्धा है अगर मैं पूरी सावधानी से यह धंधा न चलाऊँ तो घाटे में पड़ जाऊँगा इसलिए मुझे पूरा ध्यान देना पड़ता है और इसी कारण ही मैं सदा लाभ में ही रहता हूँ और इस व्यापार मण्डल के मैदान में कभी हार न खाकर मेरी जीत बनी रहती है।

महात्माजी सेठ की बात सुनकर हँस पड़े और बोले "प्रेमी !" तुम तो हार को ही

जीत समझकर खुश हो रहे हो। असली हार जीत का तो तुम्हें पता ही नहीं है। सेठ ने पूछा वह कैसे ? तब महात्माजी ने कहा—"जब जीव पर ईश्वर की कृपा होती है तो उसे सन्त सत्पुरुषों का मिलाप होता है और उनके प्रवचनों द्वारा जब मन के मन्दिर में ज्ञान का दीपक जलता है तब उसे हार और जीत की सूझ-बूझ समझ पड़ती है और अपने इस मनुष्य तन रूपी घर की कीमत का पता चलता है वरना आम संसार तो इस मनुष्य तन रूपी बहुमूल्य रत्न को कौड़ियों के भाव खोकर हार में जा रहा है।

महात्माजी ने उसे इस प्रकार महापुरुषों की वाणी द्वारा समझाकर कहा कि आप जो मिट्टी, ईंट, पत्थर आदि के मकान बनाते और बेचते रहने से जो रुपया, पैसा, जिसे अन्त में मिट्टी ही हो जाना है लाकर प्रसन्न होते हो और अपने को बहुत समझदार और होशियार मान रहे हो परन्तु वास्तव में जो तुम्हारा अपना असली घर बहुमूल्य जवाहिरात से जड़ा हुआ है और उसमें से अनमोल हीरे, लाल जैसे बहुमूल्य स्वांस बाहर निकलते रहते हैं उनके बदले में आप कौन सी बहुमूल्य वस्तु प्राप्त करते रहते हैं ? इस हार जीत पर तो आपने कभी ध्यान ही नहीं दिया।

उस कीमती घर और उसके बहुमूल्य फर्नीचर की कदर और कीमत की पहचान कराने के भाव से हम आपसे एक प्रश्न पूछते हैं। "यदि कोई व्यक्ति आपसे इस प्रकार सौदा करना चाहे कि मुझसे एक बढ़िया प्लॉट ले लो और अपनी एक आँख निकाल दो, तो क्या तुम उसकी बात मानकर यह सौदा कर लोगे ? उसने कहा, 'हरगिज नहीं। मैं यह सौदा कभी नहीं करूँगा।' महात्माजी ने फिर पूछा, 'यदि कोई प्लॉट देकर नाक काटने का सौदा करना चाहे या हाथ या पाँव लेना चाहे और उसके बदले में रुपये देने के लिए तैयार हो जाये तो क्या आप मान लोगे ?'' तो उसने इन्कार में सिर हिला दिया। तब महात्माजी ने हँसकर कहा, "अब बताओ, ऐसे कीमती घर के बदले में तुमने कौन-सा धन इकट्ठा किया ? ऐसे कीमती घर की कुर्बानी देकर आप कौन-सी पूँजी जमा कर रहे हैं ? या दिन रात ऐसे अनमोल घर और बहुमूल्य श्वांसों को क्यों गँवा रहे हैं, उसके बदले में क्या यह नाशवान और साथ न देने वाली अस्थायी झूठी दौलत ही जमा कर रहे हैं और कभी आपने इस बात पर भी विचार किया है कि इस मानव तन में अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु "मन" भी है जिसके बदले में यदि कोई परिपूर्ण भगवान को क्रय करना चाहे, तो कर सकता है।

जो राम अर्थात् जगत का मालिक सोने के बदले भी प्राप्त नहीं हो सकता वही भगवान मन के बदले में प्राप्त किया जा सकता है।"

महात्माजी ने कहा—"भक्तजो ! अब सोचो ! जिस मन रूपी पूँजी के बदले आप कुल मालिक भगवान को क्रय कर सकते हो, उसी पूँजी को सांसारिक धन्धों में व्यय करने से अर्थात् मन व सुरति को संसार में लगा देने से, मानो आपने कुछ धन कमा भी लिया तो क्या हुआ ? अन्ततः यह धन परलोक में तो आपका साथ नहीं दे सकेगा। एक न एक दिन यह आपसे बिछुड़ जायेगा। अब तुम हार-जीत या हानि-लाभ का निर्णय स्वयं ही करो कि मन की पूँजी को व्यय करके कौन-सी वस्तु लेने में लाभ है ? परलोक की पूँजी न बनाकर लोक की सम्पत्ति जमा कर भी लो, तो वह आपके किस काम आएगी ?"

महात्माजी के उपदेश को सुनकर वह सेठ उनके चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा, "महाराज! आपने तो मेरी आँखें ही खोल दीं। आज तक तो मैं इस व्यापार से बड़ा आनन्दित हो रहा था कि मैं बड़ा लाभ-दायक कार्य कर रहा हूँ। परन्तु आज आपके प्रवचनों द्वारा मुझे वास्तविक लाभ-हानि की सूझ-बूझ और परख पड़ी है। इसलिए मैं आपके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ और अति धन्यवादी हूँ।"

महात्माजी ने उसे समझाते हुए कहा, "मेरे इस उपदेश का अर्थ यह नहीं कि आज से अपना धन्धा ठप्प कर दो। तुम अपना कारोबार निस्सन्देह करते रहो, परन्तु उसके साथ-साथ ईश्वरके सच्चे नाम को भी अपना साथी बनालो। इससे यह लाभ होगा कि काम धन्धा करते हुए, उसके लाभ-हानि से सुखी-दुःखी न होकर ईश्वर की कृपा से प्रत्येक समय प्रसन्न चित्त रहोगे। क्योंकि तुम्हारी असली पूँजी ईश्वरका नाम तो सदा तुम्हारे पास ही रहेगा। यों धन की कमी का तुम्हें कभी सन्देह (चिन्ता) न होगा।"

"सांसारिक धन्धा कभी एक-सा नहीं चलता। प्राकृतिक तौर पर उसमें उतार-चढ़ाव आते ही रहते हैं। इतिहास के पन्ने उलटने से ज्ञान प्राप्त होता है कि भगवान श्री रामचन्द्रजी महाराज को भी एक दिन राज्य मिला था तो दूसरे दिन वन जाने की तैयारी हो गई। इससे निष्कर्ष निकलता है कि सांसारिक अवस्था सदा बदलती रहती है। परन्तु ईश्वर के प्रिय भक्तजन उसमें दुःखी-सुखी न होकर भगवान राम की तरह एक समान प्रसन्नचित्त रहते हैं। जैसा कि सत्पुरुषों ने वर्णन किया है—

जो राजु देहि न कवन बड़ाई।
जो भीख मंगावहि न क्या घटिआई॥

जिनका ध्यान ईश्वर के सच्चे नाम में समाया रहता है, वह राज्य अधिकार पाकर फूलते नहीं और भीख माँगनी पड़े तो घबराते नहीं। सोचो कि किस आधार पर रहकर वह सदा एकरस व मस्त रहते हैं, यह वही सच्चे नाम का रस व आनन्द है, जो हमने आपको समझाया है। सेठजी ने पूछा—"उस सच्चे आनन्द और रस की प्राप्ति के लिए कौनसा साधन करना पड़ेगा?" महात्माजी ने कहा—"गुरु शब्द (नाम) का सुमिरन करने से तुम्हारे मन की मलिनता दूर होगी और तुम्हारे अन्तर की ज्योति प्रकाशित होगी। उस प्रकाश में तुम असली हार-जीत को समझ सकोगे और हानि से बचकर अपने मनरूपी धन के बदले में सच्चा नाम प्राप्त करके सच्ची व स्थायी प्रसन्नता प्राप्त कर सकोगे।"

सेठ ने महात्माजी से विनय करके उनसे गुरु-मन्त्र तो ले लिया और उस नाम की कमाई करने से भक्तिरूपी धन की सच्ची पूँजी जमा करने लगा तथा उसकी मानसिक अवस्था में परिवर्तन होने लगा। पूर्व अवस्था में तो वह प्रायः काम-क्रोध के वश में होकर बिना ईंधन की अग्नि में जला करता था। कभी लोभ में बह जाता था, परन्तु अब नाम का अभ्यास करने से उसके मनकी चंचलता मिटने लगी थी। ज्यों-ज्यों मन भजन अभ्यास में स्थिर होता, त्यों-त्यों उसे नित्य आनन्द प्राप्त होता। धीरे-धीरे वह झूठे सेठसे सच्चा सेठ बनने लगा। ऐसे ही भाग्यशाली शिष्यों की अवस्था का वर्णन करते हुए श्रीगुरुदेवजी महाराज ने अपनी पवित्र वाणी में कहा है कि जिन्होंने सच्चे नाम का व्यापार किया है

वे वास्तव में सच्चे साहूकार हैं। उनके पास नाम-जप का बहुत बड़ा खजाना है और जो प्रभु के नाम से प्रीति करते हैं, उनको काम, क्रोध और लोभ नहीं व्यापते। क्योंकि वह हर समय ईश्वर की पूजा, अर्चना, सुमिरण ध्यान में लगे रहकर उसी एक के रंग में रंगे रहते हैं। सच्चे सन्तों की चरण-शरण ग्रहण करने से उनके मन में सदा प्रसन्नता बनी रहती है। श्री गुरुदेव कहा करते हैं कि जिनके पल्ले में सच्चे नाम का धन है, वही सच्चे शाह अर्थात् सेठ हैं।

वास्तव में ऊपर के शब्दों से ही सच-झूठ और जीत-हार का पता चलता है।

एक मनुष्य को अपना कमाया हुआ एक लाख रुपया प्राप्त हो जाय, दूसरे एक व्यक्ति को किसी दूसरे तक पहुंचाने के लिए कहीं से एक लाख रुपया मिल जाय। यद्यपि उन दोनों के पास उस समय तो एक-एक लाख रुपया है, परन्तु दोनों की प्रसन्नता में काफी अन्तर होगा। यही हाल उन लोगों का भी समझना चाहिए, जो लोग झूठे धन को पाकर प्रसन्न होते हैं, परन्तु अन्दर से उन्हें भी विश्वास होता है कि यह धन हमारे साथ जाना नहीं करेगा। इसी प्रकार बहुत कुछ धन-माल रखने के बावजूद भी उन्हें अन्दर अन्दर चिन्ता का घुन लगा रहता है, क्योंकि सच्चे नाम का धन तो उनके पास होता नहीं कि उसकी सच्ची खुशी प्राप्त करके चिन्ताओं से बच सकें। फलतः वे सदा भीतर ही भीतर चिन्ता में घुलते रहते हैं।

एक और उदाहरण है कि एक व्यक्ति धन-दौलत कमाकर सुरक्षित घर ले जाय। विरुद्ध इसके दूसरे व्यक्ति से उसका कमाया हुआ धन रास्ते में ही लुटेरे लूट लें तो उन दोनों की चिन्ता व प्रसन्नता में निःसन्देह बहुत भारी अन्तर होगा। इसलिए ऊपर जो उल्लेख है कि जिसके पास नाम का सच्चा खजाना होता है, उसे काम, क्रोध व लोभ आदि व्याकुल नहीं करते। उनके दिल में सदा शान्ति बनी रहती है और जो नाम-धन से खाली होते हैं, उनका झूठा धन कभी काम, क्रोध, कभी लोभ-मोह अहङ्कार आदि के कारण व्यर्थ ही व्यय हो जाता है अर्थात् झूठा धन किसी भी अवस्था में स्थिर नहीं रह सकता।

क्योंकि सांसारिक धन से अन्ततः एक दिन अलग होना ही पड़ता है, फिर जिस व्यक्ति की प्रसन्नता का आधार उस अस्थिर धन पर हो, उसकी प्रसन्नता क्योंकर स्थिर रह सकती है?

विपरीत इसके, जो भाग्यवान व्यक्ति सन्त सत्पुरुषों की पवित्र संगति में जाकर सच्चे नाम धन को प्राप्त कर लेते हैं, उनके दिलमें सदैव स्थायी प्रसन्नता बनी रह सकती है और वास्तव में वही सच्चे शाह कहे जा सकते हैं।

मान लो, दो व्यक्तियों के भाग्य में लिखा है कि उन्हें किसी जहरीले कीड़े ने काटा है, परन्तु एक व्यक्ति के रक्त में इतनी शक्ति है कि उस पर विष का प्रभाव नहीं होता परन्तु दूसरे को वही विष मार देता है। तो उन दोनों की अवस्था में कितना अन्तर हुआ। क्या जीवन और मृत्यु के अन्तर से भी और कोई अधिक लाभ-हानि हो सकती है? नाम का सुमिरन करने वालों की आत्मा में इतनी शक्ति आ जाती है कि उन्हें सांसारिक दुःख-

(● शेष पृष्ठ ४३ पर पढ़ें)

प्रथम दर्शन—

योग साधन आश्रम ऋषिकेश

● श्री डा० विजयसिंह

…तरवर्ती लीला-चरित्र आनन्दकन्द महाप्रभु श्री रामलालजी का बहुत कुछ ऋषिकेश से सम्बन्धित रहा है। श्री मानिकचन्द को गङ्गा से मुक्त कर योग निधि दान देना तथा भविष्य में योग विद्या का सार्वभौमिक स्वरूप प्रदान करने हेतु परमपूज्य श्री सद्गुरु भगवान को आज्ञा प्रदान करना, जंगलों में जा रहे विरक्त सन्यासप्राप्त श्री प्रभुजी को मार्मिक पत्र द्वारा यह कहकर कि हम यहाँ बैठे हुए हैं और तुम जंगल में जा रहे हो। जो पैर उठे हैं उन्हें पीछे कर लो आदि। वे यहाँ अदृश्य रूप से रहते हुए भी वे परम करुणासिन्धु मुमुक्षों पर सदैव अपनी कृपा शक्ति बरसाते रहते थे। ऐसे परम पुनीत धाम योग साधन आश्रम में हम सभी सद्गुरु भगवान की प्रेरणा से अब भी गर्मियों में गंगा दशहरा के पर्व पर योग सम्मेलन में प्रतिवर्ष सम्मिलित होकर अनुप्राणित होते रहते हैं।

आज इस लेख के द्वारा दशाब्दियों पूर्व मैंने मुझे श्री सद्गुरु भगवान की अनुकम्पा से इस धाम का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ था, उसी अनुभूति स्मृति को शब्द चित्रों से चित्रित का यह अधूरा प्रयास कर रहा हूं। बहुत वर्ष पहले सन् १९६५ में आनन्दकन्द श्री सद्गुरु भगवान के दर्शन अपने ग्राम कठरा मिरजापुर में मुझे हुये थे। उस समय श्री मुख से योग साधन आश्रम ऋषिकेश के पावन तीर्थ का महत्व तथा गंगा तटवर्ती आश्रम के जंगल जहाँ बड़े-बड़े शिला खण्डों में से मां सुरसरि निरन्तर अबाध्य रूप से हर-हर ध्वनि निनादित करती हुई बहती रहती है, जिनके ऊपर महायोगियों जैसी अंतिम समाधि मुद्रा में तटस्थ पर्वतराज हिमालय अपनी वन-सम्पदा से सुशोभित खड़ा है, सुना था। श्री प्रभुजी की मूर्तिमान अमोघवाणी ने उसी क्षण मानस पटल पर सुरम्य दृश्यों को अंकित कर दिया था। आगे श्री प्रभुजी ने कहा— तुम सभी ऋषियों की सन्तान हो तथा उन आनन्दकन्द योग योगेश्वर श्री महाप्रभुजी के कृपापात्र बालक हो। अतः यथाअवसर निकाल कर गंगा दशहरे के पर्व के समय आश्रम के महोत्सव में सम्मिलित होकर योग निष्ठा को प्राप्त करने का तथा दिव्य शिलाखण्डों पर स्थित होकर घण्टों ध्यानाभ्यास करने के अवसर को न खोना ? अवश्य ही वहां जाना। वहाँ तुम्हारा मन एकाग्र हो जायेगा। जिनको ध्यान क्रियायें हैं उन्हें उत्कर्ष लाभ होगा।

साधारणतः सभी मानव की मतियां भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। 'मुण्डेमुण्डे मतिर्भिन्ना', परन्तु योग की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए हर महामानव की वाणी सिद्धान्त रूप होती है।

अतः वह उनमें तदाकारिताहो स्वयं परलक्षित होता है। अब किन्हीं योगिराज की वाणी को पुस्तकोंमें पढ़ता हूं तो ऐसा लगता है हम इन सारे मन्तव्य तो पहले ही अपने सद्‌गुरु के श्रीमुख से सुन चुका हूं और हो भी क्यों न, क्योंकि उस महासमष्टि का जब व्यष्टि में पूर्ण आरोहण हो उठता है, तब उसेही सद्‌गुरु कहा जाता है। अतः महायोगी भर्तृहरि की हम चाह हर समुत्सुक साधकों की ही चाह है—

गङ्गातीरे हिमगिरि शिला,
बद्ध पद्मासनस्य।
ब्रह्म ध्यानाभ्यसनविधिना,
योगनिद्रां गतस्य॥
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसै-
र्यत्र ते निर्विशङ्काः।
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः,
स्वांगमंगे मदीये॥

अर्थात्—वे सुदिन प्रभु! कब मेरे होंगे, जब गंगा के तीर पर शिला-खण्डों पर पद्मासन लगाकर ब्रह्म-ध्यान करता हुआ मैं मग्न हो जाऊँगा। जीव ब्रह्म ऐक्य अवस्था में सारे प्राणी मुझसे निःशंक हो जावेंगे, तब वृद्ध हरिण भी निर्भय होकर अपने शरीर की खुजलाहट दूर करने के लिए मेरे उस समाधिस्थ शरीर से रगड़ा करेंगे।

अन्तर्यामी प्रभु ने हमारी मानस प्रार्थना सुन ली थी और उसी वर्ष के ग्रीष्मावकाश में मुझे अपना सामीप्य सान्निध्य प्रदान कर दिया। वह सुदिन भी निकट आया, जब प्रभु ने दो अन्य कर्मठ साधकों के साथ मुझे भी ऋषिकेश महोत्सव के कुछ दिन पूर्व ही उत्सव व्यवस्था हेतु बुला लिया था।

हिमालय की तराई में बसा एक छोटा कस्बा ऋषिकेश। तीन तरफ से पहाड़ियों से घिरा हुआ है। हरिद्वार से उत्तर की ओर बस तथा रेल लाइन से जुड़ा झुनझुन

(● पृष्ठ ४१ का शेष)

सुख कुछ महसूस ही नहीं होते। मीराबाई का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसे राणाजी ने विष का प्याला भेजा, परन्तु मीरा पर उस विष का कोई प्रभाव नहीं हुआ, बल्कि उसे उस विष में भी अमृत का स्वाद मिला और इसी प्रकार श्री नामदेवजी के सामने जब एक मौके पर एक बहुत लम्बे क़द का भूत प्रकट हुआ और झपटा तो नामदेवजी उसे देखकर डरे नहीं, अपितु उसे भगवान् का रूप समझकर उसकी स्तुति करने लगे :—

"भले विराजे, मेरे लम्बक नाथा।"

वह भूत भी उनके लिए सचमुच ही भगवान् की तरह सुखदायी बन गया।

ऐसे ही शक्तिवान गुरु शिष्यों पर चाहे कितनी भी मुसीबतें और कष्ट-क्लेश आवें, परन्तु वे भगवान् की कृपा ही मानते हैं। इसी कारण वे दुःख भी उनके सुख में परिणित हो जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि जो गुरु-शिष्य मानव-तन रूपी घर के बदले में सन्त-सत्पुरुषों की संगति व उनकी चरण-शरण के प्रताप से अमर-घर की प्राप्ति कर लेते हैं। उन्होंने ही सही अर्थों में इस मानव-तन रूपी घर की पूरी कदर व कीमत जान पाई है। ●

है ऋषिकेश स्टेशन। यात्री गाड़ी से उतर कर प्लेटफार्म पर आता है, एक अद्भुत दृश्य मन को मुग्ध कर डालता है। सघन वृक्ष वल्लरियों से आच्छादित हिमालय (शिवालय) की पर्वत श्रेणियाँ अपने क्रोड़ में ऋषिकेश को लिये हुए हैं। रेलवे स्टेशन से जब हम बाहर निकलकर डामर सड़क पर लगभग दो फर्लांग चलते हैं तो दायीं ओर एक भव्य विशाल आश्रम, जिसके अंदर शांतमग्न सघन आम्रवृक्ष काफी दूर से ही दिखाई देने लग जाते हैं। आश्रम का विशाल दुर्ग-द्वार-सा लौह-फाटक जिसके ऊपर चन्द्राकार प्रस्तर-खण्ड पर आलेखित पंक्ति 'योग-साधन आश्रम' तथा 'योग ही दिव्य जीवन है।' बलात् धार्मिक जिज्ञासु तीर्थ-यात्रियों की दृष्टि को अपनी ओर खींच लेता है। द्वार के सम्मुख पहुंचकर एक रमणीय-सी आश्रम की आन्तरिक झांकी दिखलाई पड़ती है। दिव्य-भवन निर्माण कौशल लघु वाटिका तथा सिमेंटर पद्धति से क्रमशः खण्ड-खण्ड उत्तरोत्तर ऊँची होती गयी, भवन-संरचना सब अति मन-भावन है। द्वार एक खुले प्रांगण के साथ मन्दिरनुमा हॉल जिसके दोनों ओर व्यवस्थित ढंग से कमरे दो मंजिले व तिमंजिले खड़े हैं। बायीं ओर एक कुआं है। व्यक्ति की दृष्टि ज्योंही प्रांगण की ओर उठती है, उसे दो शेर-शेरनी दिखलाई पड़ते हैं। तीस गज की दूरी से सजीव जीवन्तता है इन दोनों में। मध्य दरबार के अन्दर सजी हुई दिव्य परमदेवकी झांकी देखकर हर आगन्तुक श्रद्धावान साधक उसे प्रणाम करता है। ये परमदेव कौन हैं? किनकी झाँकी है? ऐसी जिज्ञासा जिसके भी मन में उठी वह भाग्यवान अवश्य ही उन करुणानिधि श्री महाप्रभुजी की कृपा-शक्तिको पाकर योगारूढ़ होता देखा गया है।

आश्रम में निवास करते हुए हम लोग सुबह-शाम पवित्र हिम-शीतल गंगाजी के सलिल में स्नान करते तथा शिला-खण्डों पर बैठकर घण्टों सलिलरव जो अनादि काल से निरन्तर अखण्ड ध्वनि में भगवान शिव के पावन नाम हर-हर को जपता रहता है, उसे सुनते रहते थे।

उन्हीं दिनों महाभागीरथी के ऋषिकेश वाले तट पर इस तरफ शीशम तथा झाऊ के जंगल थे जिनमें इतस्ततः कुछ तपस्वी साधकों ने छोटी-छोटी कुटिया बनाकर रखी थीं जो आज भी विद्यमान हैं तथापि पहले जैसी प्राचीनता अब नहीं रही। समय के इस अन्तराल ने भागीरथी के तटवर्ती इस प्रदेश को बदल डाला है। मुनि की रेती जिसमें चंद्रेश्वर महादेव का बड़ा प्राचीन मन्दिर चन्द्रभागा के बीच धार में स्थित है। वहाँ भी हम लोग जाकर एकांत में बैठा करते थे। "मुनि की रेती" नाम के पीछे एक दिलचस्प कथा है। हिमालय की सुदूर ऊंचाई से गंगाजी प्रकट होकरके महाराज भगीरथ को कृतकार्य करने हेतु समतल भूतल पर उतरीं। किशोरियों की अल्हड़ता तथा प्रौढ़ों की धीर गम्भीरता का उदाहरण जिसे प्रकृति में एक साथ देखना हो, उसे अवश्य ही एक बार हिमालय के उत्तुङ्ग शिखरों पर जहाँ अलकनन्दा, भागीरथी आदि नामों से प्रचलित सुरसरि गंगा प्रवाहित हो रही है, जाना चाहिए। जहाँ गंगा के धीरे की चपलता हरिद्वार तक दृष्टिगोचर होगी। गंगा गंगोत्री से जन्म

(● शेष पृष्ठ ४६ पर पढ़ें)

रेल यात्रा के

दो आध्यात्मिक-प्रसंग

(१)

● श्री केशवदेव उपाध्याय ●

देवाधिदेव महादेव जगतपति जनार्दन श्री सद्गुरुदेव भगवान के चरण कमलों में पिछले कई वर्षों से सेवा का सुअवसर प्राप्त करने वाले परम भाग्यवान हमारे आदरणीय गुरुभाई श्री पुष्करजी ने श्री प्रभुजी के धर्म प्रचार कार्यक्रम में अनेकों बार उनके साथ देश के एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने के लिए यात्रायें की हैं। इस साल मुझे भी, श्री पुष्कर जी के साथ, उपरोक्त कार्यक्रम से सम्बन्धित ही एक रेल यात्रा का सुअवसर प्राप्त हुआ। मैंने अपने आदरणीय गुरुभाई श्री पुष्करजी से निवेदन किया कि लम्बी यात्रा है, आप श्री गुरुजी के साथ लगभग सर्वत्र यात्रा में साथ रहते हैं, उन यात्राओं में से कुछ ऐसी यात्राओं का विवरण सुनाने का कष्ट करें जिनमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस दयानिधान की आध्यात्मिक शक्ति का परिचय मिलता हो। हमें महान् आनन्द एवं प्रसन्नता का अनुभव हुआ जब हमारे भाई ने हमारी हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए इस प्रकार कहना आरम्भ किया। जिस प्रकार जलते हुए पेट्रोमैक्स को चाहे जिस प्रकार भी ढकने का प्रयास किया जाय, उसका कुछ न कुछ प्रकाश बाहर आकर इस तथ्य को स्पष्ट कर ही देगा कि यहाँ पेट्रोमैक्स जल रहा है, ठीक उसी प्रकार हमारे महाराजजी जहाँ कहीं भी विराजमान रहते हैं, वहाँ कुछ-न-कुछ विलक्षण कार्य तो हुआ ही करते हैं। इस प्रकार भीतरी आँख वाले अपने ध्यानानुभव से एवं शेष प्राणी उनकी कृपाओं द्वारा होने वाले अलौकिक कार्यों को समझकर उनके चरणों में आते हैं एवं योगी बनने का प्रयास कर रहे हैं। उन्होंने बतलाया कि अलौकिक कार्य तो श्री गुरुदेव भगवान के सानिध्य में हुआ ही करते हैं और इतनी संख्या में होते हैं कि उनका स्मरण रखना बड़ा ही कठिन होता है। ज्यादा समय बीत जाने पर धीरे-धीरे घटनाओं की स्मृति समाप्त हो जाती है। उन्होंने कहा कि श्री प्रभुजी के साथ-साथ रहना तलवार की धार पर चलने के समान है। कभी-कभी तो बड़ी ही विषम परिस्थिति पैदा हो जाती है।

श्री प्रभुजी जिस कार्य को करने के लिए बार-बार सावधान करते हैं, वह कार्य नहीं हो पाता एवं जिसे करने से रोकते हैं, वह अनायास ही करना पड़ता है। एक आप-बीती एक घटना का वर्णन सुनिए। श्री प्रभुजी (श्री गुरुजी महाराज) का कार्यक्रम जब शिमला में समाप्त हो गया तो दिल्ली आश्रम पर जाना था। वहाँ के हमारे भाइयों ने बड़े ही श्रद्धा एवं प्रेम से श्री गुरुजी महाराज को दिल्ली आश्रम के लिए मेल ट्रेन द्वारा वि[illegible] किया। जब गाड़ी शिमला स्टेशन से दिल्ली के लिए चली तो श्री प्रभुजी ने कहा कि लल्ला! श्री प्रभुजी (हमारे आपके दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज) का स्वरूप एवं रुपया पैसा, कपड़ा एवं बर्तन सब इसी ट्रंक में रखा गया है, हो सकता है

उतरते समय भीड़ काफी हो अतः सब सामान भले ही छूट जाय परन्तु यह ट्रंक अवश्य उतार लेना। यह बात श्री प्रभुजी ने कान में धीरे से कही। मैं बिलकुल सावधान हो गया। बीच रास्ते में भी श्री प्रभुजी ने उपरोक्त हिदायत दो बार दी एवं उतरने वाले स्टेशन से तीन स्टेशन पूर्व बिलकुल सावधान करते हुए कहा कि लल्ला! सब कुछ छूट जाय परन्तु ट्रंक मत छोड़ना, इसे अवश्य ही उतार लेना। श्री पुष्कारजी ने बताया कि ट्रंक के अलावा श्री प्रभुजी का बिस्तर, हमारा बिस्तर एवं एक फल की टोकरी कुल मिलाकर चार या पाँच की संख्या में थे, सब सामान को हम आसानी से उतार सकते थे केवल ट्रंक को छोड़कर, इसमें मामूली सहायता की आवश्यकता थी। उतरने वाले स्टेशन पर हमारे गुरु भाई-बहन काफी संख्या में माला लेकर उपस्थित थे। उन्होंने प्लेटफार्म पर ही श्री सद्गुरुदेव भगवान की जै, महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज की जै के गगनभेदी स्वरों से पूरा वातावरण योगमय बना दिया था। मैं उस डिब्बे के दरवाजे पर खड़ा था जिसमें श्री प्रभुजी विराजमान थे मैं उन्हीं के आदेश से खड़ा था। मुझे देखकर प्लेटफार्म पर उपस्थित सभी गुरु भाई-बहन उस डिब्बे के पास एकत्र हो गये।

गाड़ी के रुकते ही श्री प्रभुजी उतर कर प्लेटफार्म पर खड़े हो गये एवं हमारे गुरु भाई-बहनों ने माल्यार्पण आरम्भ कर दिया। श्री प्रभुजी ज्योंही गाड़ी से नीचे उतरे मैं उस स्थान पर चला गया जहाँ सामान रखा था। मैंने सामान उतारना आरम्भ किया। अपनी समझ से मैंने सब सामान उतार लिया एवं उसे श्री प्रभुजी के पास रखकर मैं भी वहीं खड़ा हो गया। इतने में गाड़ी ने सीटी बजायी, गार्ड ने हरी झंडी दिखलाई। श्री प्रभुजी अपने बच्चों से घिरे थे एवं उनका कुशल क्षेम पूछ रहे थे। एकाएक उन्होंने पूछा क्यों लल्ला! ट्रंक कहाँ रखे हो? श्री प्रभुजी के मुखारविन्द से ट्रंक का नाम सुनकर लगा कि मेरे पैर के नीचे से जमीन खिसक गयी! काटो तो खून नहीं! मैं हतप्रभ-सा तस्वीर की तरह खड़ा था एवं किंकर्तव्य विमूढ़-सा हो गया। गाड़ीने चलना

(● पृष्ठ ४४ का शेष)

लेकर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है अपने उफनते प्रबल प्रवाह से हिम-खण्डों को तोड़ती हुई यौवन-मद में चूर, बड़े-बड़े प्रस्तर-खण्डों को विदीर्ण करती हुई अपने शौर्य बलको प्रदर्शित करती हुई हजारों-हजारों छलांगें लगाती हुई निरन्तर शिव की जटा जाल रूपी वन पर्वत-खण्डों से उतरती हुई बड़ी शोर मचाती हुई हरिद्वार तक आती है। हरिद्वार के बाद लगता है, वय बोध से गम्भीर हो उठती है। प्रयाग, काशी की गंगा प्रौढ़ माँ गंगा है, जिनकी तरंगों में वह उफान कहाँ है, जो ऋषिकेश से ऊपर देखने को मिलता है।

किंवदन्ती यह है कि अति प्राचीन काल में "मुनि की रेती" में एक सिद्ध योगिराज का निवास-स्थल था। किशोरी गंगा की प्रबल ध्वनि से उनको समाधिस्थ होने में व्यवधान हुआ करता था। अस्तु एक दिन उन्होंने अपने तपः तेजयुक्त वाणी से गंगा को आदेश दिया—अरी गंगे! तू इतना रव क्यों करती है? तू शान्त रह। सिद्धानुशासन को शिरोधार्य कर भगवती लगभग २-३ फर्लांग की मुनि की रेती में तबसे आज तक नीरव प्रवाहमान है। सहजतया आज भी कोई इसे देख सकता है। ●

आरम्भ किया। जाड़े की ऋतु थी अतः सभी डिब्बों की खिड़कियाँ बन्द थीं। मैं मूर्ति की तरह खड़ा था कि श्री प्रभुजी ने कहा कि गाड़ी पर चढ़कर ट्रंक उतारो। मैं दौड़कर गाड़ी के पास गया परन्तु सब दरवाजे एवं खिड़कियाँ बन्द होने के कारण घबड़ाकर महाराजजी से निवेदन किया कि प्रभुजी मैं ऊपर से दरवाजा, खिड़कियों को पीट रहा हूं परन्तु कोई खोल नहीं रहा है। श्री प्रभुजी ने कहा, क्यों नहीं खोल रहा है। श्री प्रभुजी की इस आवाज के साथ ही जहाँ हम खड़े थे उसके आगे वाली खिड़की का दरवाजा सहसा खुला एवं चूँकि उसमें छड़ नहीं लगी थी अतः मैं किसी प्रकार खिड़की द्वारा ही डिब्बे में प्रवेश कर गया। मेरे गाड़ी में प्रवेश करते करते ही गाड़ी बिना प्रयोजन रुक गयी एवं हमने देखा कि प्रभुजी का ट्रंक सामने ही रखा है। तब तक हमारे काफी गुरु भाई-बहन वहाँ आ गये थे, मैंने उस ट्रंक को नीचे उपस्थित लोगोंको पकड़ाया पर मैं बहुत घबड़ाहट में था। श्री प्रभुजी ने मुझे इस स्थिति में देखकर कहा कि लल्ला! घबड़ाओ नहीं शान्त भाव से नीचे उतरो। मैं नीचे उतरा मेरे नीचे उतरते ही गाड़ी का चलना आरम्भ हो गया। मैंने पुष्करजी से यह जानना चाहा कि गाड़ी रोकने के लिए किसी ने गार्ड से अनुरोध किया था? उन्होंने कहा कि ऐसी कोई बात नहीं थी, उन्होंने कहा कि हमने जो देखा उससे यही समझ में आया कि श्रीप्रभुजी हमारे गाड़ी में प्रवेश करने से लेकर उतरने तक इंजन की तरफ ही देखते रहे। इस प्रकार के चरित्र तो हमारे गुरु भाई-बहनों को प्रायः श्री आराध्यदेवजी की यात्राओं में देखने को मिल ही जाया करते हैं।

क्रमशः

आत्मध्यायी मिताहारी

आत्मध्यायी मिताहारी यावद् द्वादशवत्सरम्।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात्॥

जो योगी आत्मा का ध्यान करता हुआ और मित आहार करता हुआ बारह वर्ष तक सिद्धासन का अभ्यास करता है, वह योगी योग की सिद्धि को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अन्य योगविधाओं के बिना भी केवल सिद्धासन द्वारा ही सिद्धि को पा जाता है।

किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति।
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुम्भके॥

केवल सिद्धासन के ही सिद्ध हो जाने पर अन्य आसनों की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस सिद्धासन से सावधान प्राणवायु के केवल कुम्भक प्राणायाम बाँधने पर अन्य सब आसन व्यर्थ हो जाते हैं।

—हठयोग प्रदीपिका

प्रज्ञा-प्रसाद

जीवन क्या है ? क्यों है ? उसका परम लक्ष्य क्या है। इस महान् प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि—

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतिर्जीवनं मतम् ।

अर्थात् उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रगति, उत्तरोत्तर समुत्थान ही जीवन है, यही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है।

इस उत्तरोत्तर प्रगति में जीवन को क्रमशः तामस, राजस और सात्त्विक अवस्थाओं में से होकर जाना पड़ता है। वास्तविक आदर्श का अपरिज्ञान, मोह, प्रमाद और आलस्य का ही नाम तामस अवस्था है। लक्ष्य की अस्थिरता, अनिश्चय, अशान्ति, अवसाद और मिथ्या अभिमान का ही नाम राजस अवस्था है। परमतत्त्व की स्पष्ट प्रतीति, निश्चय, तत्परता, अध्यवसाय, शांति और प्रसन्नता को ही सात्त्विक अवस्था कहते हैं।

इन अवस्थाओं के क्रमिक विकास का विशेष प्रतिपादन नीचे लिखित रचना में किया गया है।

उक्त सात्त्विक अवस्था के परम उत्कर्ष को ही 'प्रज्ञा-प्रसाद' समझना चाहिए। 'तमसो माज्योतिर्गमय' (बृहदारण्यकोपनिषद् १/३-२८) "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्० ७/३२-२६) इत्यादि वैदिक प्रार्थनाओं का वास्तव में अभिप्राय उक्त 'प्रज्ञा-प्रसाद' से ही है।

'प्रज्ञा-प्रसाद' के स्वरूप और स्थिति का विभिन्न दृष्टियों से सुन्दर वर्णन शास्त्रों में यत्र-तत्र मिलता है। उदाहरणार्थ निम्नस्थ प्रमाणों को देखिए—

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस् ।
ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

—मुण्डकोपनिषद् ३/१-८)

अर्थात् साधक ज्ञान द्वारा प्रज्ञा-प्रसाद को पाकर ही विशुद्ध परमतत्व के साक्षात्कार में समर्थ होता है।

समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतंभरेति संज्ञा भवति। अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति न च तत्र विपर्यासज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति।

—योगसूत्र १/४८ व्यास-भाष्य

अर्थात् विशुद्ध सात्त्विक अवस्था में जिसका चित्त समाहित (=समाधान या समाधि को प्राप्त) हो चुका है, उसकी प्रज्ञा को ही "ऋतम्भरा" कहा जाता है, क्योंकि वह सत्य को ही धारण करती है और उसमें विपर्यास या मोह का गन्ध भी नहीं रहता।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।

—भगवद्गीता २/६५

विशुद्ध और प्रसन्न चित्त वाले मनुष्य की ही बुद्धि प्रतिष्ठित होती है।

प्रज्ञा-प्रसाद की स्थिति का ही वर्णन हमारी "रश्मिमाला" पुस्तक में निम्नस्थ शब्दों में किया गया है—

सौम्य मनःस्थिति

अभिमान से, दम्भ से और दर्प से रहित,
शान्त, छल-कपट से अस्पष्ट और संयम से युक्त,
श्रद्धा और विवेक के साथ सत्यमार्ग का अनुसरण करने वाली,
संसार के कल्याण की बुद्धि से ही ज्ञान का उपार्जन करने वाली,
समस्त प्राणियों के हित की बुद्धि से समन्वित।

—श्री डा० मङ्गलदेव शास्त्री

सद्‌गुरु और सद्‌शिष्य

बिना सद्गुरु के सद्शिष्य का कोई उपयोग नहीं होता और बिना सद्शिष्य के सद्गुरु व्यर्थ है। उत्तम और शुद्ध भूमि ढूंढकर उसमें रद्दी बीज बोने से अथवा चट्टान पर उत्तम बीज बोने से जो दशा होती है वही दशा असद् गुरु के सामने सद्शिष्य की और असद्शिष्य के साथ सद्गुरु की होती है। सद्शिष्य तो सत्पात्र होता है पर असद् गुरु उसे मन्त्र-तन्त्र आदि बतलाता है जिससे उसका इहलोक सुधरता है न परलोक। यदि दोनों सद् न हों तो काम नहीं बनता। जहाँ सद्गुरु और सद्सिद्ध दोनों मिल जाते हैं वहाँ कुछ कुछ भी श्रम नहीं करना पड़ता। दोनों की तृप्ति एक-दूसरे से अनायास हो जाती है।

यह ठीक है कि सद्गुरु की कृपा से असद् शिष्य भी सद् हो जाता है। सद्गुरु उसीको समझना चाहिए जो ज्ञान का बोध कराने की अविद्या का समूल नाश कराने की और शिष्य को साधना के द्वारा परमात्म शक्ति से एकता करा देने की क्षमता रखता हो। ऐसे सद्गुरु भगवान का ही रूप होते हैं।

दूसरी ओर सद्शिष्य होने का पहला लक्षण भी यह होता है कि शिष्य संयमी जितेन्द्रिय, मिताहारी और अपने सद्गुरु के प्रति पूर्ण निष्ठावान हो। जो ऐसे शिष्य होते हैं वे ही सद्गुरु से अपने जीवन निर्माण का दिशाबोध प्राप्त कर पाने में सफल हो पाते हैं।

—गुरुबोध सार

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 AUGUST, 1983

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, धर्राई (इलाहाबाद) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री
(१८८७)
रमेश वशोहिया S/o मुंशीराम वशोहिया
बाबा हरीदास का मन्दिर सत्तपुरा
मुरैना म० प्र०

धर्म की आवश्यकता

धर्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम् ।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः ॥

'धर्म ही सत्पुरुषों का हित है, धर्म ही सत्पुरुषों का आश्रय है और चराचर तीनों लोक धर्म से ही चलते हैं।'

हिन्दू धर्मशास्त्रों में धर्म का बड़ा महत्व है, धर्महीन मनुष्य को शास्त्रकारों ने पशु बतलाया है। धर्म शब्द 'धृ' धातु से निकला है जिसका अर्थ धारण करना या पालन करना होता है। जो संसार में समस्त जीवों के कल्याण का कारण हो, उसे ही धर्म समझना चाहिये. इसी बात को ध्यान में रखते हुए निर्मलात्मा त्रिकालज्ञ ऋषियों ने धर्म की व्यवस्था की है। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार तो एक हिन्दू-सन्तान के जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत समस्त छोटे-बड़े कार्यों का धर्म से सम्बन्ध है।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बल्लई वाली ताजगंज, आगरा-१ फोन ६५७५६